प्रकाशक
रामसहाय लाल
गया ।

प्रथम संस्करण, १९४८
एक रुपया बारह आना

मुद्रक
स्टैन्डर्ड प्रिन्टर्स, गया ।

संक्षेप में

'यशोधरा' हिन्दी कविता को गुप्तजी की एक देन है। इसमें प्रबन्धात्मकता एवं गीतात्मकता, दोनों ही गुणों का सुचारु समावेश है। यद्यपि पुस्तक की शैली सरल एवं मनोहर है, तथापि विद्यार्थियों के लिये उसके काव्यगत सौंदर्य, भावाभिव्यंजना तथा शास्त्रीय पद्धति के निर्वाह का विश्लेषणात्मक दर्पण चाहिये। 'यशोधरा' पर इस दृष्टि से आलोकपात करनेवाली पुस्तक का अभाव हमें वर्षों से खटक रहा था, जो विद्यार्थियों के लिये सहायक हो। इसी अभाव को दूर करने का हमारा यह तुच्छ प्रयास है। पाठ्य-पुस्तक के रूप में इसे पढ़ते हुए जो कठिनाइयाँ आये दिन विद्यार्थियों के आगे आती हैं, उनके निराकरण का भरसक प्रयत्न इसमें है। साथ ही पुस्तक की साहित्यिक सुन्दरता को भी अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की गयी है। विश्वास है, पुस्तक लोगों के लिये उपयोगी होगी और यदि ऐसा हो, तो हम अपने परिश्रम को सार्थक समझेंगे।

दुःख है कि सतर्क रहने पर भी प्रेस की कुछ भद्दी भूलें रह गई हैं, जो आजकल का एक फैशन है। बस!

—प्रकाशक

परिचय

श्री कृष्ण कुमार जी लिखित यशोधरा का विश्लेषणात्मक अध्ययन देखने को मिला। लेखक ने निजी दृष्टि से काव्य के सौन्दर्य-वैचित्र्य का विश्लेषण किया है। पुस्तक की विशेषता की जितनी दिशायें हैं, सब पर आलोकपात करने का प्रयास पुस्तक में है। 'यशोधरा' हिन्दी संसार का बहुत ही लोकप्रिय काव्य-ग्रन्थ है। इतना होते हुए भी पाठकों की बड़ी दुनियां से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के साधन-स्वरूप आलोचना के ग्रन्थ उस पर इने-गिने ही हैं। सर्वसाधारण पाठक को इससे रस-आहरण की कठिनाइयाँ रहती ही हैं, सबसे ज्यादा दिक्कत उन बेचारे विद्यार्थियों को रहती है, जिन्हे पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में इस काव्य को पढ़ना पड़ता है। लेखक ने विद्यार्थियों की उस बाधा को मर्म से अनुभव किया है और उसे दूर करने की चेष्टा की है। हम समझते हैं, प्रस्तुत आलोचना से छात्र यथोचित लाभान्वित होंगे।

मानसरोवर, गया
८ १२ ४८

हंस कुमार तिवारी

समर्पण

पूज्य आचार्य

प्रो० शिवनन्दन प्रसादजी, एम० ए०, साहित्यरत्न

को

जिनके चरणों में बैठकर मैंने काव्यालोचन के सिद्धान्त का अध्ययन किया और जिनकी प्रेरणा, पथ-निर्देश और अतुलित-स्नेह पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति में अभिव्यक्त है।

कृष्ण कुमार

दो शब्द

'गुप्तजी की यशोधरा' आपके सामने है। इस पर अनेक आलोचना-पुस्तकें निकल चुकी हैं, फिर भी उनमें अन्य चाहे जो भी विशेषताएँ हों पर वे मूल ग्रन्थ के सूक्ष्म अध्ययन का अभाव-सा प्रकट करती हैं और उसी की पूर्ति इसमें की गई है। इसके अतिरिक्त, पुस्तक के अंत में कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या भी दे दी गई है।

गुरुवर प्रो० शिवनन्दन प्रसादजी की ही प्रेरणा के फलस्वरूप इस पुस्तक की रचना का प्रारंभ कई वर्ष पूर्व ही हो चुका था, पर अनेक झंझटों से अब समाप्त हो सकी है। इसके प्रणयन में श्रद्धेय प्रो० कपिलदेव सिंहजी ने बहुमूल्य सहायता दी है, जिसके लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूँ।

पुस्तक लिखने में जिन लेखकों की कृतियों एवं पत्रिकाओं से सहायता मिली है, उनका मैं कृतज्ञ हूँ। पुस्तक के लिखने में मेरे दो मित्रों ने भी काफी योग दिया है, वे हैं श्री बैजनाथ प्रसाद खेतान, बी० ए० (ऑनर्स) और श्री भगवती शरण, बी० ए० ऑनर्स) ये अभिन्न हैं, इन्हें धन्यवाद क्या दूँ?

६०, चौक रोड,
तूतबाड़ी, गया।
पहली दिसम्बर, १९४८

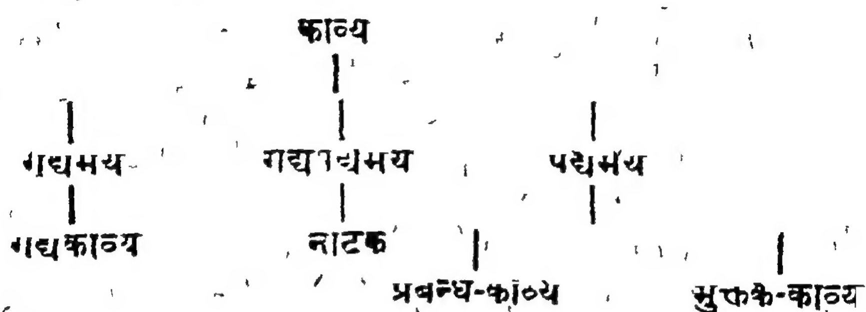
विनीत
कृष्ण कुमार सिन्हा

सूचीपत्र

विषय		पृष्ठ
१	यशोधरा का विधान	१
२	यशोधरा में गुप्तजी की नारी-भावना	८
३	यशोधरा में विरह-वर्णन	३५
४	यशोधरा में प्रकृति-चित्रण	५२
५	यशोधरा में वैष्णव-भावना	६५
६	रससिद्धान्त और यशोधरा	७५
७	महाभिनिष्क्रमण की प्रेरक भावनाएँ	८५
८	कथावस्तु में राहुल का स्थान	९३
९	यशोधरा का कला-पक्ष	९९
१०	उर्मिला और यशोधरा	१२०
११	'परिशिष्ट'	१२६

यशोधरा का विधान

विधान की दृष्टि से काव्य का विभाजन निम्न प्रकार से किया जाता है



इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य-रचना प्रधानतः चार प्रकार से किया जा सकता है (१) गद्यकाव्य (ख) नाटक (ग) प्रबन्ध-काव्य और (घ) मुक्तक-काव्य।

अब प्रश्न यह है कि गुप्तजी ने 'यशोधरा' की रचना में किस विशिष्ट शैली का आश्रय लिया है? साधारण पाठक की हैसियत से जब हम 'यशोधरा' को पढ़ते हैं तब उसमें किसी एक विशिष्ट शैली का रूप नहीं पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना में कवि ने अपनी मौलिकता एवं अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे प्रबन्ध-काव्य कहा है, पर उन्होंने यह स्वीकार किया है कि इस पुस्तक में '*उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबन्धत्व की कमी है। बात यह है कि इसकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतिकाव्य या नये ढंग के प्रगीत मुक्तकों*

(*Lyrics*) *की ओर हो चुकी थी।'* बात यथार्थ है। इसकी रचना एक प्रयोग (Attempt) है और वह है आख्यान काव्यों में प्रगीत मुक्तकों का उपयोग। गुप्तजी ने इसके 'शुल्क' में अपने अनुज श्रीसियारामशरण जी से एक पथिक की कहानी कह कर फिर उस पर फुटकर विचार के रूप में कहा है *'कहानी तुम्हें रुची हो या नहीं, परन्तु तुम अकेले ही मेरे लिए उस गृहस्थ के सम्मिलित कुटुम्ब हो रहे हो। मेरी शक्ति का विचार किए बिना ही मुझसे ऐसे ही अनुरोध किया करते हो। कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य-पद्य तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं।'* वस्तुतः इसे किसी वर्ग-विशेष में रखना अत्यन्त दुवार है।

काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य है मानिनी गोपा और राहुल-जननी का चरित्र-अंकन। पुस्तक के आरंभ में मंगलाचरण है, जो नाटकों का भी एक मुख्य तत्त्व रहता आया है। इसके उपरान्त हम देखते है कि सिद्धार्थ नाटकों के स्वगत-भाषण की तरह कुछ कह रहे हैं, पर स्वगत-भाषण की इतनी लम्बी योजना नाटकीयता के प्रतिकूल दीख पड़ती है। बाद मे फिर कथनोपकथन की शैली व्यवहृत की गई है; पर केवल कथनोपकथन के उपयोग से इसे नाटक नहीं कह सकते।

तो क्या यह मुक्तक काव्य है? इसमे न तो वस्तु-वर्णन ही होता है और न इसके गीत गेय ही है। यह जीवन के मात्र एक अंग का ही चित्रण करता है। इस काव्य की सब से बड़ी विशेषता यह है कि थोड़े मे बहुत कुछ कलात्मक ढंग से

कह दिया जाता है और कहीं भी शिथिलता नहीं आती। इसमें कथा की योजना नहीं है। अगर है भी, तो उसका संबंध-सूत्र आगे आनेवाली घटनाओं से नहीं है। इसमें भावों की पुनरावृत्ति हो सकती है, यथा सूरसागर में चन्द्र-खिलौना का वर्णन बार-बार आता है। मुक्तक गीतों के रूप में, एक-एक कर पात्र आते हैं और स्वगत भाषण की भाँति अपने भावों की अभिव्यक्ति कर जाते हैं। प्रत्येक पात्र से सम्बद्ध गीतों को एकत्रित कर उसका शीर्षक उसी पात्र के नाम पर रख दिया गया है और इसके साथ-साथ छन्द भी भिन्न-भिन्न हैं। प्रबन्ध-काव्य में शिथिलता का भी कहीं-कहीं समावेश हो जाता है, पर शिथिलता की भी महत्ता कथा-सूत्र को बढ़ाने में सहायक होती है। काव्य की दृष्टि से इसका महत्व भले ही न हो, पर कथा की दृष्टि से है। इसमें भावों की बार-बार आवृत्ति होने से कथानक में आघात पहुँचता है। अतएव कहा जा सकता है कि महाकाव्य में अनुपातक्रम और मर्यादा का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। प्रबन्ध काव्य की भी दो कोटियाँ हैं महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य में जीवन का विस्तार रहता है और खंडकाव्य में जीवन के एक खंड का ही उद्घाटन। इस दृष्टि से देखा जाय, तो यशोधरा क्या है? यह मुक्तक काव्य की कोटि में इसलिए नहीं रखा जा सकता क्योंकि इसमें कथा-सूत्र का संबंध आगे आनेवाली घटनाओं से है। प्रबन्ध-काव्य इसलिए नहीं है क्योंकि न तो यह सर्गों में निबद्ध है और न उनकी संख्या ही दी गई है। प्रबन्धकाव्य के विधान के विपरीत इसके अन्तर्गत गद्य में लिखा हुआ एक नाटक

(का छोटा भाग) भी प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त, भावव्यंजना प्राय: गीतों में है और साथ-साथ इसमें भावों की पुनरावृत्ति भी हुई है, जिसके कारण प्रबन्ध-प्रवाह का अभाव है। सिद्धार्थ जीवन की असारता दिखलाने के लिए न जाने कितने पदों की ओर पाठकों का ध्यान ले जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की मोहकता, कहानी की रोचकता और कविता की सरसता लिए हुए यह एक अभिनव प्रयास है। वास्तव में नवीनता के प्रति प्रेम और प्राचीनता के प्रति समादर की भावना ने ही इस काव्य को 'खिचड़ी' का रूप दिया, जैसा कि गुप्तजी ने स्वयं 'शुल्क' में कहा भी है।

हमारा जहाँ तक अपना विचार है कि 'यशोधरा' नाटकीय-पद्धति पर लिखा हुआ एक खंड-काव्य है। किसी भी प्रबन्ध-काव्य को लें, उसमें नाटकीयता तो रहेगी ही, भले कथानक उसमें प्रधान न हो। उस तरह नाटकों मे कथनोपकथन की प्रधानता रहते हुए भी कथा की योजना रहेगी। क्रोचे के मतानुसार काव्य का विभाजन किया ही नहीं जा सकता। नाटक को केवल उसकी नाटकीयता के कारण हम अलग नहीं कर सकते।

संभव है लोग कहें, फिर इसमें गद्य का क्यों व्यवहार हुआ है? भाव-नाट्य में पद्य की भी योजना होती है, गद्य की भी। यह सर्वविदित है कि पद्य का प्रयोग पात्रों की भावुक अवस्था में होता है और गद्य का प्रयोग सर्वसाधारण भावों की अभि-व्यक्ति के लिए। यहाँ 'यशोधरा' कथनोपकथन में गद्य उस

समय व्यक्त करती है जब कि वेदना से उसकी सारी कोमल भावनाएँ घुलकर विचार के रूप में आ खड़ी होती है और जब उसकी कोमल वृत्तियाँ सजग होती हैं तब भावों का तूफान पद्य में बह जाता है। यह कटु सत्य है कि गीत की रचना उस समय होती है जब मानव-भावनाएँ अंतिम शिखर पर पहुँच जाती हैं। 'यशोधरा' में भाव-व्यंजना गीतों के रूप में पायी जाती है। अतएव हम देखते है कि सुन्दर भावों से सम्बद्ध गीत यत्र-तत्र पुस्तक में बिखरे पडे हैं और वे सब गीत गीति-काव्य की विशेषताओं से पूर्ण हैं। गीतिकाव्य की निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं

(१) आत्मनिष्ठ भावना का प्राधान्य (२) भावना का चरम उत्कर्ष (३) गीत का स्वतंत्र अस्तित्व (४) एक ही व्यापक भाव (५) प्रत्येक गीत गेय हो और (६) आकार में गीत लघु हो।

गुप्तजी ने अपनी 'यशोधरा' में गीतों का सृजन किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम देखते हैं कि यशोधरा की वेदना जब तीव्र हो जाती है तब वह गीत के रूप में फूट पड़ती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यशोधरा के गीत उसकी वेदना की ही व्यंजना करते हैं। इनमें भावना का चरम उत्कर्ष तो हुआ है, पर कवि ने यहाँ अपने पात्र 'यशोधरा' के मुख से इन गीतों को गवाया है। इसमें कवि की स्वानुभूतियाँ प्रत्यक्ष रूप से तो यशोधरा की ही अनुभूतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त, उनका आकार भी लघु ही है और संस्कार (Pattern) का तो सन्निवेश भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। दृष्टान्त-स्वरूप कुछ गीतों का मनुहार कीजिये

(क) सखि, प्रियतम हैं वन मे ? किन्तु कौन इस मन मे ?

(ख) कूक उठी है कोयल काली, ओ मेरे वनमाली !

(ग) मरण सुन्दर वन आया री ! शरण मेरे मन भाया री !

(घ) सो, अपने चंचल-पन सो ! सो मेरे अंचलधन सो !

(ङ) अब क्या रक्खा है रोने में ?

(च) बस, मै ऐसी ही निभ जाऊँ !

(छ) रूदन का हँसना ही तो गान !

(ज) आओ हे वनवासी !

पर सुन्दर गीतों का सृजन गुप्तजी ने उस समय किया है जब यशोधरा वेदना का अत्यधिक रूप में अनुभव कर रही है और वह उन भावनाओं को हृदय मे छिपा कर रखने में असमर्थ हो गई है। यथा

रूदन का हँसना ही तो गान !

और

आओ हे वनवासी !

और लोरी का उत्कृष्ट उदाहरण निम्न गान है

सो, अपने चंचलपन सो !

सुतरां, हम देखते हैं कि इन गीतों में उदात्त भाव, सूक्ष्मता, हृदय-स्पर्शी प्रसंग तथा नाद-सौन्दर्य आदि सभी गुण वर्त्तमान है। इस प्रकार इसमें स्वतंत्र गीतों का प्रभाव है, न कि प्रबन्धात्मकता का। यह सत्य है कि इसमें प्रबन्धकाव्य की निम्न विशेषताएँ अवश्य परिलक्षित होती है और वे हैं वस्तु, वर्णन-प्रणाली तथा कथनोपकथन। इसी कथनोपकथन के द्वारा नाटकीयता, कथा रोचकता और मोहकता तथा गीतों से भावों की सरसता लाई गई है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर

पहुँचते हैं कि 'यशोधरा' प्रबन्ध काव्य और गीत के बीच की रचना है।

इन सब विविध विशेषताओं के अतिरिक्त भी, तुकबन्दी करना गुप्तजी की कला है। तुक मिलाने में उन्होंने भावपक्ष को निकृष्ट बना दिया है। इसमें भद्दी तुकबन्दी की भी कमी नहीं। तुक बैठाने के फेर में उन्होंने अव्यवहृत शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो हास्यास्पद हो गया है। इस पद्धति को भी उन्होंने अंत तक नहीं निभाया है और लाचार आखिर से उनकी रचना भिन्नतुकान्त हो गई।

अंत में हम देखते यह हैं कि गुप्तजी ने जैसा 'शुल्क' में लिखा है, वैसा ही किया है। अतः हम डा० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी के शब्दों में कह सकते हैं कि 'शुल्क' में उनकी कही गई 'पंक्तियाँ ठीक-ठीक 'यशोधरा' की शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। कवि के हाथों 'यशोधरा'—जैसी 'खिचड़ी' के पकाए जाने का यही अभिप्राय होता है कि कवि अपनी शैली के लिए स्वतंत्र है, वह खामोखाह दक़ियानूसी आचार्यों की परिभाषा की मुहर लगाकर अपनी कविता का रूप नहीं सँवारना चाहता; उसे तो अपनी निजी सौन्दर्यभावना पर गर्व है; वह अनायास ही कलम की आत्मा बनकर उसे यथेष्ट मार्गों में प्रेरित करेगी, समतल में भी, विषमतल में भी, क्यारियों में भी, ककरीली पगडंडियों पर भी। शैली की मनोनीतता और मौलिकता भी गुप्तजी के नवयुग की सहानुभूति अर्जित करने में सहायक हुई है। वस्तुतः गुप्तजी के प्रति डा० ब्रह्मचारीजी की उदार भावना प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है और हम भी उनके कथन से सहमत हैं। बस !!

यशोधरा में गुप्तजी की नारी-भावना

सदियों से ही समाज में नारी का स्थान सर्वोपरि रहा है। नारी सृष्टि के आरम्भ से ही पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी है और वह विश्व की प्रत्येक वस्तु के अर्ध-भाग की अधिकारिणी है। नर-नारी के संयोग से ही समाज का निर्माण हुआ है। नारी के बिना नर-जीवन ही अपूर्ण है और वह मानव-जीवन को रस प्रदान करनेवाली है। अतीत का इतिहास बतलाता है कि नारी ने मानव को जीवन-सन्देश दिया है, जिसके सहारे वह प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ। जीवन का सारा सौन्दर्य, सारी कमनीयता नारी में अन्तर्हित है। यह तो मानना पड़ेगा कि नारी का रूप समय के अनुसार बदलता रहा है। नारी जीवन के युग युग की कहानी इन पंक्तियों में अंकित है

अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!

कवि ने अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा नारी-जीवन की दो विशेषताओं का अन्वेषण किया है। वे दो व्यापक तत्व हैं 'आँचल का दूध' और 'आँखों का पानी'। एक ओर नारी विरहाग्नि में अश्रु जल का दान करती है तो दूसरी ओर स्वयं क्षीण होकर संतान का पुष्टि करती है। विश्व-नारी का सार तत्व है विरह और वात्सल्य।

गुप्तजी ने 'यशोधरा' की रचना क्यों की? उनको कहाँ से प्रेरणा मिली? यह जानना सभी के लिए दुर्वार है। 'यशोधरा'

के निर्माण के पीछे एक सुन्दर रहस्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त करना पाठकों के लिए उपयोगी है। आज से कुछ वर्षों पूर्व जब कवीन्द्र रवीन्द्र प्राचीन-साहित्य का अध्ययन कर रहे थे, उस समय उनका 'हृदय काव्य के कुछ कोमल नारी-चरित्रों की निर्मम उपेक्षा देखकर सहसा विचलित हो उठा,' जिसके फलस्वरूप उन्होंने 'काव्येर उपेक्षिता नारी' शीर्षक निबन्ध लिखा। इस ओर आचार्य स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी की नजर गई और उन्होंने भी 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' पर एक सुन्दर निबन्ध लिखा। अस्तु, युवक कवि मैथिलीशरण गुप्तजी पर इस लेख का प्रभूत प्रभाव पड़ा। इसके बाद काव्य-रचना (साकेत) प्रारंभ हो गई और उसमें आशातीत सफलता मिली। इसके अनन्तर, गुप्तजी की अन्तः-दृष्टि काव्य की दूसरी उपेक्षिता 'यशोधरा' पर गई और नारी-गुणों के प्रति सहानुभूति से प्रेरित होकर उन्होंने 'यशोधरा' का निर्माण किया। गुप्तजी ने भारतीय ललनाओं में भारतीय आदर्श की प्रतिष्ठापना करने की भरसक चेष्टा की; क्योंकि हमारी भारतीय ललनाओं का जो भी आदर्श रहा, वह समय के चक्र में पड़कर रूखा-सूखा सा प्रतीत होने लगा। पर कालांतर में नए कलाकारों ने अपनी प्रतिभा से उन प्राचीन आदर्शों को एक नया रूप दिया, उन आदर्शों का एक ढांचा तैयार किया तथा उसे एक नई आत्मा से अभिसिञ्चित कर दिया। यही कारण है कि इन दोनों पुस्तकों की कथावस्तु प्राचीन रही है अवश्य, पर उसकी साज-शय्या नवीन है। जिस आदि-कवि वाल्मीकि के मुख से 'मां निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः

शास्वतीः समाः' श्लोक का उच्चारण हुआ, उस कवि की वाणी उर्मिला के लिए मौन रही। पर आधुनिक युग में गुप्तजी ने ही उस काव्योपेक्षिता उर्मिला की अर्चना की। कवि ने 'साकेत' पर विश्व-बापू से सम्मति मांगी। 'साकेत' की उर्मिला ने बापू के कोमल-हृदय में अपना घर कर लिया तथा उन्होंने महाकवि के पास लिख भेजा

'उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदास जी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष-दृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है, उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्व है। उर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी ही भगिनियाँ। मानस एक अनुपम धर्मग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता, सीताराम का ही जप जपाया है। 'साकेत' में भी मैं वही चीज देखना चाहता था, इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ।'

बापू की इस सम्मति ने कवि की भावधारा को एक दूसरी ओर मोड़ दिया। *'उनके ये कतिपय शब्द कवि के हृदय पर पत्थर की लकीर बन गए और हमें ऐतिहासिक अनुरागिणी यशोधरा की जगह अनुरागिनी होती हुई मानिनी गोपा की सृष्टि मिली।'*

'यशोधरा' के लिखने की प्रेरणा 'साकेत' की उर्मिला से मिली, जिसके सम्बंध में गुप्तजी ने स्वयं 'शुक्ल' में लिखा है —

'भगवान् बुद्ध और अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना। और, उनका श्रेय भी साकेत की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के रजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।'

अस्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यशोधरा उपेक्षिता क्यों रही? प० रामदीन पाण्डेय, एम० ए० के शब्दों मे 'इस उपेक्षा के दो कारण संभव है। प्रथमतः उसने लोक, कुटुम्ब या समाज के कल्याण के लिये कोई ऐसा सस्मरणीय काम न किया जो जाति के साहित्य में स्थायी स्थान ग्रहण कर सके। द्वितीयतः यशोधरा में ऐसे गुण होंगे जो गौतम के उत्कृष्ट गुणों के सामने उल्लेखनीय प्रमाणित नहीं हुए। सुतरां वे किसी कवि और लेखक का ध्यान आकर्षित न कर सके।'

अब हमारी दृष्टि नारी-रूप पर पड़ती है। सूक्ष्म दृष्टि से नारी का अनेक रूप दृष्टिगत होता है और वह है कन्या, कुमारी, समाजसेविका, माता, पत्नी, उपदेशिका, लेखिका, शासिका, आदि। पर मोटे तौर पर नारी-रूप का विकास क्रम कुछ यों है कुमारी, कामिनी, जाया और जननी।

कुमारी गोपा

विश्व की प्रत्येक वस्तु का आरंभिक जीवन होता है, जिसकी संज्ञा है शैशवावस्था। जिस प्रकार एक वृक्ष होने के पूर्व उसका आरंभिक रूप एक बीज का रहता है, उसी प्रकार एक

नारी कहलाने के पूर्व वह कुमारी अवश्य रहती है। यह सत्य यशोधरा के साथ भी लागू होता है। यशोधरा जाया-रूप में आने के पूर्व कुमारी अवश्य रही है जिसका उल्लेख इस पुस्तक में नहीं है। इस संबंध मे यह कहा जा सकता है कि '*किसी भी जीवन में प्रविष्ट होने के लिए तैयारी (Preparation) की आवश्यकता है। कामिनी यशोधरा तथा राहुल-जननी गोपा के लिये भी प्राकृत जीवन के विकासगत नियमों का अनुसरण करना अनिवार्य था। किसी भी सहृदय कवि या मेधावी लेखक के लिए जरूरी था कि वह गोपा के अविवाहित जीवन और उसकी प्रारंभिक अवस्था की मानसिक और शारीरिक शक्तियों के विकास के चुने हुए पृष्ठों को हमारे सामने रखता। गोपा के कौमार जीवन की ऐसी मर्मस्पर्शी तस्वीर खींचता जो संसार की अनूढा महिलाओं तथा कन्याओं के लिए आदर्श-जीवन समझा जाता। कुमारी यशोधरा की बाल्यावस्था का चित्रण उठती हुई स्त्री जाति के जीवन में सरसता प्रदान करता और उनके कर्तव्यों के निर्धारण में सहायक होता। काव्योपेक्षिता यशोधरा का यह जीवन गुप्तजी के हाथों में पड़ कर भी पूर्णतः उपेक्षित ही रहा।*' १

कामिनी यशोधरा

कुमारी गोपा का दूसरा स्वरूप है कामिनी का। इस रूप में आकर्षण की कड़ी है और वह कड़ी मानव-मन को आकृष्ट कर लेती है। गोपा के जीवन का क्रम और उसका इतिहास बदल तो गया अवश्य, पर उसके कामिनी जीवन-

१ काव्य की उपेक्षिता पं० रामदीन पाण्डेय, एम० ए०

चर्या का संकेत भी नहीं। इसमें यशोधरा के कामिनी रूप का अभाव बहुत खटकता है। इसी कामिनी रूप ने गौतम को वैराग्य मार्ग की ओर चरण बढ़ाने की प्रेरणा दी, पर कवि ने इसी रूप की पूर्णतः उपेक्षा की। यों तो 'गुप्तजी ने पुस्तक के उत्तरार्द्ध में कामिनी की प्रशंसा विरहिणी गोपा के मुख से ही कहलायी है।' पर यह दोषपूर्ण है।

जाया यशोधरा

इसके उपरान्त नारी का तृतीय रूप है जाया और इस जाया के साथ जननी का भी अन्योन्याश्रय संबंध है। ये दोनों रूप जाया और जननी एक दूसरे के पूरक हैं। जाया रूप में अनुरागिणी और मानिनी रूप का निलय है। यशोधरा का सम्पूर्ण जीवन काव्य का विषय नहीं, बल्कि काव्यगत-जीवन का आरंभ जाया-रूप से ही होता है।

पुस्तक के आरंभ में सिद्धार्थ का दर्शन एक चिन्तक के रूप में होता है। उन्होंने संसार को असार एवं दुखमय पाया। वे संसार के बेवस जीवों का दुःख देखकर व्यग्र हो उठे और एक गीत से उनका महाभिनिष्क्रमण हो जाता है। जैसे ही उनका प्रयाण होता है वैसे ही यशोधरा के स्वप्न में प्रणय का तूफान आ जाता है और उनकी हृदय-कलिका मुरझा कर टूट जाती है। अब गोपा का अनुराग जाग पड़ता है और प्रश्नवाचक स्वर में पूछ बैठती है

'नाथ, कहाँ जाते हो? अब भी यह अन्धकार छाया है।'

अनुरागिणी गोपा अपने प्रियतम को कुछ क्षणों के लिए रुकने का अनुरोध करती है, पर वे रुकते नहीं। वह स्वप्न में

ही अपने प्रिय को स्नेह-सूत्र में गूँथना चाहती है, पर आह ! विधि की विडम्बना ने उन्हे आँखों से बहुत दूर कर दिया। यशोधरा के स्वप्न-साज में बाधा आ खड़ी हो गई और पलकें खुल गई।

'हा ! जागकर क्या पाया, मैंने वह स्वप्न भी गँवाया है।'

'विश्व को 'गौतमी गीता' मिलने जा रही है, पीड़ित प्राणियों को निर्वाण मिलने जा रहा है इस शुभ शकुन की अभिव्यक्ति यशोधरा की फड़कती हुई बाँयी आँख करती है। किन्तु गोपा को ? उसका जो था वह भी छिन गया। फिर उसका हृदय क्यों न धड़के ?

सखि, वे कहा गये हैं ? मेरा बाँया नयन फड़कता है।
पर मै कैसे मानूँ ? देख, यहाँ यह हृदय धड़कता है।

यशोधरा के इस समाधान की अंतिम पंक्ति के प्रत्येक शब्द से अनुराग की रशमियां फूट-फूट कर निकल रही है।' २

इसी बीच छन्दक के मुख से स्पष्ट सूचना मिलती है कि सिद्धार्थ ने

हाय ! काट डाले वे केश।
चिकने-चुपड़े, कोमल-कच्चे, अच्छे सुरभि-निवेश।

इधर पतिव्रता यशोधरा भी अपने 'काले व्याल' को कर्त्तरी से काट डालती है और सन्यासिनी का आवरण ढ़क लेती है। अनुरागिनी गोपा वैराग्य-रूप का शृंगार वहन करती है, पर उसकी मनोकामना है

२ गुप्तजी और उनकी यशोधरा प्रो॰ केशरी कुमार, एम॰ ए॰

चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल ।
मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल ।
बस, सिन्दूर-बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल ।
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल ।

यशोधरा के अन्तर्प्रदेश-मे आशंका की लकार पहले से ही थी क्योंकि गौतम अपने जीवन के पहले प्रभात से ही चिन्तन-शील रहे । यों तो गौतम ने यशोधरा को मुक्तिमार्ग की बाधा समझ कर निद्रा की गोद में रहने दिया और स्वयं चल पड़े दूर, बहुत दूर । पर कपिलवस्तु की नव राजवधू को पति के वियोग की पीड़ा नहीं, बल्कि नारी-जाति के अपमान की पीड़ा व्यग्र विह्वल कर रही है । स्वाभिमानी गोपा के अन्तरतम में दुःख इसलिए है कि वह (स्त्री-संप्रदाय) मौन-प्रयाण के द्वारा अपमानित की गई है । वह बार-बार गौतम के सिद्धान्तों पर विचार करती है; पर उसका कोई परिणाम नहीं, निष्कर्ष नहीं । उर्मिला भी यशोधरा की भांति पति-वियोगिनी है, पर गोपा के प्राणेश्वर बिना कुछ कहे ही चले गए, यही उसे संताप है और इसका होना सहज (Natural) है । उर्मिला के वियोग की एक अवधि है पर यशोधरा की निरवधि । यशोधरा के बिरह की रात अनन्त तथा असीम है । यों तो उर्मिला और यशोधरा दोनों ने आँसुओं का संसार सजाया, पर दोनों की विरह-कहानी में आकाश-पाताल का अंतर है । यशोधरा का चरित्र उर्मिला से कई दृष्टियों में भिन्न है । वह उर्मिला की अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट है क्योंकि उसके आत्म-संतोष के लिए उसकी गोद मे मृगछौना-सा राहुल है । लक्ष्मण ने उर्मिला के प्रति कोई तिरस्कार

की भावना नहीं दरसायी, पर यशोधरा अपने जीवन-धन द्वारा अपमानित की गई। उसे खेद इस बात का है कि उसके प्राणेश्वर चोरी-चोरी चले गए। उसके हृदय में एक कचोट है, वह यह है कि गोपा को अंतिम विदाई के गीत गाने का अवसर क्यों नहीं दिया गया? क्या नारी सिद्धि-माग की बाधा समझी गई? और गोपा की भावना में इसी भावना की प्रतिध्वनि है, जो व्याघात बनकर यशोधरा के हृदय को कुरेद रहा है

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

'यदि नारीत्व की निर्बलता में भी सबलता का आधान, उसकी कोमलता में भी कठोरता का सधान, उसके आत्मसमर्पण में भी आत्माभिमान का विधान गुप्तजी को इष्ट है, तो इस दृष्टि से यशोधरा के चित्रण में उर्मिला के चित्रण की अपेक्षा अधिक कलात्मकता लाभ की है उन्होंने।

अब कठोर हो बज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

इन पंक्तियों में यशोधरा के चरित्र में जो विषम व्याघातों का समन्वय किया गया है उसकी ओर संकेत है। यशोधरा को क्षोभ यह है कि उसके पति ने उसे मोम की प्रतिमा ही समझ लिया। उन्हें मालूम होना चाहिये था कि इस मोम की प्रतिमा में एक अयस्कान्त-निर्मित्त क्षत्राणी छिपी हुई थी जो यह कह सकती थी कि

स्वय सुसज्जित कर के क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण मे,
क्षात्र-धर्म के नाते ।

'अमृत-पुत्र' बुद्ध ने नारी को सिद्धि-मार्ग की बाधा मान कर मानों संपूर्ण नारीत्व पर एक कलंक का टीका लगाया, किन्तु यशोधरा वह नारी नहीं है जो कलंक के टीके को अपने माथे पर हँसी-खुशी लगाए रहे। वह यह कबूल नहीं कर सकती कि केवल पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी है, और न यही की मोक्ष गार्हस्थ्य के परे जगल में ही मिला करता है।' ३ यहीं मे यशोधरा के मानिनो रूप का आरंभ होता है। जिस नारी ने सुख-दुःख हर्ष-विषाद, जन्म-मरण, मंगल-अमंगल, संयोग-वियोग, राग-रोग आदि में साथ दिया है, उसी के प्रति यह अविश्वास। इसी की कसक यशोधरा के हृदय में है और स्थान-स्थान पर यही कहानी यशोधरा की वाणी मे अभिव्यक्त होती है। यशोधरा के अनुसार नारी विश्व के कल्याण मे बाधक नहीं, साधक है। 'पुरुष की अहमन्यता ने स्त्रीत्व के अभिमान ने यशोधरा के सम्मुख एक विषम प्रश्न प्रस्तुत कर दिया है

अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय-मात्र थे तेरे ?
हां ! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे ?

३. गुप्तजी की कारुण्य-धारा डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री एम० ए० (त्रितिय), डी० फिल०

और

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है ?

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि यशोधरा के हृदय में विद्रोह की भावना व्याप्त है, परन्तु सभी प्रश्नों का समाधान वह स्वयं करती है। वह वधूवंश की लाज' बचाने के लिए 'कुसुमादपि कुमारी' बनती है। वह इस परीक्षा के लिए एक कसौटी प्रस्तुत करती है, उसका संकल्प गौरवपूर्ण भी है और करुण भी

जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी ।
प्रिय ! तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी ।

यशोधरा यह दिखलाना चाहती है कि गौतम ने जिस प्रेम को वासनापूर्ण माना है; उसमें कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता भी है। इसके अतिरिक्त, वह संसार को यह भी दिखलाना चाहती है कि विश्व को मुक्ति का वरदान देनेवाले गौतम की भुवन-व्यापिनी कीर्ति में यशोधरा की गृह-साधन का भी सहयोग रहा है। वह यह भली-भाँति जानती है कि नारी-पुरुष का अधिकार सम है

देखूँ एकाकी क्या लोगे
गोपा लेगी, तुम दोगे
मेरे होगे, तो मेरे होगे
भूले हो पहिचानो ।

मानिनी गोपा अपने संकल्प पर अंत तक दृढ़ रहती है। वह अपने स्थान से च्युत नहीं होती, वह अटल है। सिद्धार्थ

बुद्ध होकर लौटे हैं। सभी लोग उनके दर्शन के लिए मगध चलते हैं। राजा शुद्धोदन मानिनी गोपा से कहते हैं

बेटी, उठ, मैं भी तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा।

पर वह नहीं जाती है और अपना तर्क यह पेश करती है

हाय अम्ब! आप मुझे छोड़कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे।

सिद्धान्त रूप से वह पति का विरोध करती है, पर उसके हृदय में मान है। अस्तु, उसके मान में अनुराग भी है। अब सिद्धार्थ गौतम बुद्ध होकर लौटे है। सारी प्रकृति में यशोधरा को बुद्ध का दर्शन होता है। आज उसके जीवन-देवता का पुनरागमन हो रहा है। उस समय गोपा के हृदय का स्नेह गौतम की ओर जाने के लिए मचल उठता है पर वह मान की टेक पर टिकी रही। आज उसके जीवन की सबसे कठोन परीक्षा है। वह अपने जीवन की साधना को अक्षुण्ण बनाने के लिए मन से प्रार्थना करती है

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हू मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी॥

वास्तव में यशोधरा के हृदय में स्वागत सजाने का लोभ उत्पन्न हो रहा है। ठीक उसी समय द्वन्द्व चलता है अनुराग और मान के बीच। यही कारण है वह अपनी सारी शक्ति समेट कर मन से आग्रह करती है कि इस प्रकार वह मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाय। आज की परीक्षा अंतिम परीक्षा है। उसके हृदय में मान का तर्क है और अंत में उसकी

साधना पूरी हुई। नारी की उपेक्षा करने वाले, गौतम बुद्ध को, यशोधरा के पास आना पड़ा। एक सखी गोपा से आकर कहती है कि

प्रभु उस अजिर में आ गये, तुम कक्ष में अब भी यहाँ ?

तो मानिनी गोपा प्रत्युत्तर में कहती है

सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय ! वहाँ कहाँ ?
गोपा वहीं है, छोड़कर उसको गये थे वे जहाँ।

ऐसी विषम परिस्थिति में भगवान बुद्धदेव को, गोपा को जहाँ छोड़कर गये थे, वहीं आकर मिलना पड़ा। उन्हें अपनी भूल के लिए क्षमा माँगनी पड़ी और स्वयं भगवान बुद्ध मानिनी गोपा के मान की रक्षा करते हैं

मानिनी, मान तजो, लो, रही तुम्हारी बान।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव-तत्रभवान !

वास्तव में यशोधरा का जो भाव है कि

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान !

सो ठीक ही उतरा। यशोधरा की यह प्रेममयी भावना एक पाश्चात्य कवि से साम्य रखती है, उसने एक स्थल पर संकेत किया है

भक्ति उड़ाती है मानस को जब ऊँचे की ओर,
तब भगवान स्वयं आ मिलते खिंचे प्रेम की डोर। ×

फलतः भगवान तथागत 'माना तब दुर्बल था' कहते हुए अपनी दुर्बलता स्वीकार करते हैं और नारी की महत्ता के संबंध में कहते हैं

× Devotion wafts the mind above,
And Heaven itself descends in love

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से;
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा-अनीकनी सजाये हमें हीर-से।
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से।

नारी की महत्ता को सुनकर और भगवान बुद्ध के आत्मसमर्पण एवं अवनमन से मानिनी गोपा कृत्यकृत्य हो उठी। नारी की सार्थकता इसी प्रिय के प्रेम की प्राप्ति में है। यहाँ पर सती गोपा के मान का अंत हो जाता है। वह मान त्याग कर गौतम के चरणों पर भाल टेक देती है और कहती है

पधारो, भव भव के भगवान!
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्रभवान!

इस प्रकार देखते हैं कि *'गुप्तजी ने 'गर्विणी गोपा' और 'शुद्ध बुद्ध भगवान' के इस अपूर्व संमिलन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि करुणाजनक परिस्थिति में भी स्वत्वाभिमान की रक्षा की जा सकती है और प्रेम के राज्य में विजय और पराजय की केवल सापेक्ष सार्थकता है। गोपा की विजय में गोपा की पराजय भी निहित है और बुद्ध भगवान की पराजय में बुद्ध भगवान की विजय भी।'* ×

× गुप्तजी की काव्य धारा डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

ठीक इसी प्रकार की भावना गुप्तजी के 'साकेत' में भी दृष्टिगत होती है

प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है।
हार में जिसमें परस्पर जीत है।

साकेत: पृ० स० १७।

जननी यशोधरा

जाया ही जननी है। जाया का प्रेम पति-प्रेम है और जननी का प्रेम सन्तान-प्रेम। जब जाया जननी हो जाती है तब उस पर एक बड़ा भार आ जाता है। सन्तान के उत्थान और पतन का कारण बन जाती है। वीर नेपोलियन ने तो जननी के संबंध में लिखा है कि '*यदि मेरे देश में सुमाताऐं हो तो मै भी अपने देश को स्वर्ग बना सकता हूं।*' इसी प्रकार सुमाता का लक्षण निम्नलिखित श्लोक में भी द्रष्टव्य है

अपेत वीत विच सर्पता तो येऽत्रस्थ पुराणाः ये च नूतना ॥
अदाद्यमोऽव सानम् पृथिव्या अक्रिन्तत्रं पितर लोकयस्मै ।

अजु० । अ । १२ ।

अर्थात्, 'स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र-पुत्री को शिक्षा दे जिससे वे अधर्म का परित्याग करके धर्म का अनुष्ठान कर सकें।'

वास्तव में जननी के लिए शिशु-पालन, शिशु-शिक्षा आदि का ज्ञान होना अनिवार्य है। व्यावहारिक ज्ञान तथा पूर्वोपार्जित अनुभव माता के लिए नितान्त आवश्यक है। आज तक हमारे देश में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनको उत्थान के शीर्ष बिन्दु पहुंचाने का श्रेय जननी को ही है। जननी

की सुशिक्षा के अभाव में कोई भी अच्छी तरह पनप नहीं सकता, यह मानी हुई बात है। 'यशोधरा के मातृरूप पर विचार करने के पूर्व यह कहना अनुचित न समझा जायगा कि गुप्तजी में वैज्ञानिक विचारों का वैसा विकास नहीं हो पाया है जैसा हम विश्व के अन्य कवियों में पाते हैं। कार्य की पूर्वापर अवस्था पर आपकी दृष्टि सीधे नहीं पड़ती। वर्तमान सदी में वैज्ञानिक विचार-विकास के अंतिम धरातल पर पहुंच गए हैं। जब तक हमारे विचारों में शृंखला न होगी, जब तक हमारे विचारों के उन्मेष के लिए प्रर्याप्त कारण न देख पड़ेंगे, जब तक हमारी भावनाओं की पृष्ठभूमि का पता न लगेगा, तब तक इन विचारों और भावनाओं की प्रतिष्ठा, शिष्ट और सभ्यलोक में नहीं हो सकती। गुप्तजी ने यशोधरा को माता के उच्चतम आसन पर सहसा बैठा दिया है। उसे मातृत्व के गुरुतर भार के उद्धरण के लिए उपयुक्त होने के पूर्व ही उस पर यह बोझ लाद दिया। ... राहुल-जननी ने किस वातावरण में किन-किन साधनों के सहारे अपने पुत्र की शिक्षा की व्यवस्था की इस पर गुप्तजी ने पूर्ण प्रकाश न डाला। जब यशोधरा जानती है कि पुत्र की शिक्षा और परिपालन के लिए गौतम ने उसे उपयुक्त समझ घर पर छोड़ दिया है तब गुप्तजी के लिए राहुल की शिक्षा का समीचीन वातावरण निर्मित करना अति आवश्यक था।' ×

सिद्धार्थ यशोधरा को निद्रा देवी की गोद में छोड़कर चले गए। इधर वह विरह की आँच में जलने लगी। आखिर वह विचारी करती ही क्या? वह 'सुन्दर मरण' को वरण करना ही चाहती है कि एकाएक वह रुक जाती है, क्योंकि

× काव्य की उपेक्षिता—पं० रामदीन पांडेय, एम० ए०, काव्यतीर्थ।

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार।
छोड़ गए मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार॥

यशोधरा के छिन्न-विच्छिन्न हृदय को सन्त्वना देने के लिए राहुल तो रहा अवश्य, पर जननी यशोधरा वेदना के अमिय हलाहल को पीकर अपने त्याग और उदारता का परिचय देती है। वह अपने आत्मसंतोष के लिए कहती है

'मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल।'

यह तो सत्य है कि गोपा की सान्त्वना के लिए राहुल है पर वह विरहिणी हृदय की पीर को नहीं दबा सकी है। जननी यशोधरा के हृदय में विरह-वेदना का अथाह सागर है। *'उसका दुःख, उसकी खीज, उसका सुख, उसकी लगन अब राहुल में सीमित हो निखर उठते हैं। माता यशोधरा अब उस शिशु को पुचकारती तथा चूमती है। कभी खिलाती-पिलाती है और प्यार करती है। अब उसे गल-गल कर पालती-पोसती और बड़ा करती हुई देखी जाती है।'* इस रूप का निरूपण 'यशोधरा' में यत्र-तत्र क ते हैं।

अभी यशोधरा की विरहाग्नि शान्त नहीं हुई है, वह अपने पति की स्मृति में घुली हुई है। इसी बीच सहसा सोता राहुल जाग पड़ता है। जननी यशोधरा रोते राहुल को चुप करने का उपक्रम करती है, पर 'माता के उद्वेलित मानस का वेग सहसा बढ़ जाता है' तथा 'अबला नारी की खीझ का प्रथम उसका शिशु, उसका लाल ही तो होता है।' यहीं से जननी यशोधरा का कार्य शुरू होता है। रोते राहुल को चुप कराना चाहती है, पर चुप कराने के ढंग में 'आँचल का दूध' न टपक

कर 'आँखों का पानी' टपक पड़ता है। राहुल-जननी की झल्लाहट का, खीझ का निदर्शन निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है

'चुप रह, चुप रह, हाय अभागे ! रोता है, अब किसके आगे ॥'

अगर हम इस प्रकार किसी भी रोते बच्चे को कहें तो उसका रोता हुआ मन और भी क्रुद्ध जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। यशोधरा इस तरह अपने राहुल को और भी रुला देती है। यहाँ पर यशोधरा का जननी-हृदय नहीं, बल्कि विरहिणी का हृदय कार्य न्यस्त कर रहा है। बच्चे के रूप को देखकर वह कहती है

'तुझे देख पाते वे रोता; मुझे छोड़ कर जाते क्यों सोता ?
अब क्या होगा ? तब कुछ होता,
सोकर हम खोकर ही जागे ! चुप रह !!'

अबोध राहुल जननी यशोधरा को क्या दे सकता है ? वह तो बिल्कुल बच्चा है। राहुल यशोधरा के वियोगी-जीवन का केन्द्रबिन्दु है। 'माता यशोधरा अपने अन्तर की पीड़ा को राहुल से छिपाती है क्योंकि उसकी छाया राहुल पर न पड़ जाय। इसके लिए वह सदा सचेष्ट है। 'माता केवल धाय ही तो नहीं होती, वह शिशु की, संतान की, परिचर्यायिका भी तो होती है। उसके जीवन का अधिकांश भाग भी तो इसी परिचर्या में व्यतीत होता है। पर, क्या इस परिचर्या से उसे दुःख होता है ? वह तो अपने जीवन का सार यही समझती है।' यही कारण है कि जननी गोपा के हृदय सागर से वात्सल्य की अजस्र धारा फूट निकली है

'बेटा, मैं तो हूँ रोने को,
तेरे सारे मल धोने को,
हँस तू, है सब कुछ होने को।'

इसकी अंतिम पंक्ति में जननी-हृदय का अमर त्याग अन्तर्व्याप्त है। वात्सल्यमयी यशोधरा के सन्मुख उसका 'मधुर सलौना' 'चाँद का टुकड़ा है, टुकड़ा'।

'यह छोटा-सा छौना!
कितना उज्ज्वल, कैसा कोमल, क्या ही मधुर सलौना!'

यशोधरा राहुल की किलक को निहारना चाहती है, पर उसकी किलक के लिए परिस्थिति का सृजन नहीं करती। वह राहुल को देखकर स्वयं खिलखिलाना चाहती हैं। वह कहती है

'किलक अरे, मैं नेंक निहारूँ, इन दाँतों पर मोती बारूँ।'

यशोधरा राहुल की एक किलक पर वार जाती हैं और उसकी इच्छा है कि राहुल चलने का प्रयत्न करे

'लटपट चरण, चाल-अटपट-सी मन भाई है मेरे।
तू मेरी अंगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ?'

कुछ इसी प्रकार माता यशोदा भी सोचती हैं कि कब मेरा लाड़ला श्रीकृष्ण घुटनों के बल चलेगा। माता की स्वभावतः यह इच्छा है कि

'यशुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटरुअन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै॥'

माता यशोदा श्रीकृष्ण को चलना सिखाने का प्रयत्न करती हैं

'सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाइ धरनि धरै पैयां।'

यहाँ पर यह बतला देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यशोधरा के मातृहृदय में करुणा की मन्दाकिनी है, पर यशोदा के हृदय में वात्सल्य की धारा। दोनों के मातृहृदय में यही मुख्य अंतर है। स्थान-स्थान पर यशोधरा के जननी रूप के साथ-साथ विरह-वर्णन की भी बू आ जाती है और उस समय यशोधरा का जननी रूप कुंठित हो जाता है। यथा

आ, मेरे अवलम्ब, बता क्यों, 'अम्ब अम्ब' कहता है?
'पिता, पिता' कह, बेटा, जिनसे घर सूना रहता है?

यह तो विदित है

'गोपा गलती है, पर उसका राहुल तो पलता है।'

अब राहुल नाचने कूदने लगा है। गोपा अपनी मनोव्यथा को छिपाए राहुल के साथ खेल करती है

'ठहर, बाल-गोपाल कन्हैया। राहुल, राजा भैया।
कैसे धाऊँ, पाऊँ तुमको हार गई मैं दैया।'

राहुल अब बोलने लगा है और माता से प्रश्न करता है

'मैया है तू अथवा मेरी दो थनवाली गैया?'

राहुल बचपन का मौन-व्रत तोड़कर पक्षी की तरह चाँय-चाँय करने लगा है और अब वह सांसारिक वस्तुओं से अपनी स्नेह-ग्रन्थि बांधना चाहता है। वह रह-रह कर प्रश्न करने लगा है और कभी-कभी तो प्रश्नों का तांता भी बाँध देता है। वह एक पंछी की बोली सुनता है और उसे उसके नाम जानने की जिज्ञासा होती है

'अम्ब, यह पंछी कौन, बोलता है मीठा बड़ा ।'

माता यशोधरा बालक की जिज्ञासा-वृत्ति को यों शान्त करती है

'बेटा, यह चातक है ?'

राहुल फिर प्रश्न करता है 'माँ, क्या कहता है यह ?' माँ अपने अन्तर की पीड़ा को दबाकर कहती है

'पी पी, किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती ?'

माँ उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को इस स्थल पर समाप्त कर देना चाहती है, पर राहुल फिर प्रश्न कर बैठता है। यह राहुल का सहज स्वभाव है, जो बच्चों का जन्मजात गुण रहता है। राहुल मे बाल-सुलभ गुणों का अभाव नहीं, वह भी सूरदास के कृष्ण की तरह दूध नहीं पीना चाहता है।

'नही पीयूँगा, नहीं पीयूँगा, पय हो चाहे पानी।'

गुप्तजी का राहुल कहानी सुनना चाहता है और तब दूध का पान करेगा पर सूर के कृष्ण अपनी चोटी को छोटा पाकर ही दूध नही पीना चाहते हैं। इसीलिए जब यशोदा दूध पीने को कहती है तब श्रीकृष्ण कहते हैं

'मैया कब ही बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अज हूँ है छोटी।'

यशोदा कृष्ण को चोटी के बढ़ जाने की सांत्वना देकर दूध पिलाती है, इसी प्रकार यशोधरा भी कहानी कहना स्वीकार करती है। यही है यशोधरा का पुत्र-प्रेम। प्रायः देखा गया है कि माताएँ अपने बच्चों के साथ खेल खेला करती हैं, इससे बालकों का मनोरंजन होता है और जब गोपा के जीवन का

आधार राहुल को छोड़कर और कोई नहीं है तो उसका कर्तव्य है कि राहुल के मनोरंजनार्थ कोई लीला रच दिया करे। गोपा यही करती है। यह प्रायः देखा गया है कि बच्चों के साथ खेल में माताएँ हार जाया करती हैं, इससे बच्चों में जीत की खुशी का भाव भर आता है। यशोधरा भी राहुल के साथ दौड़ती है, माँ गोपा निष्फल हो जाती है। राहुल विजय की खुशी में कह उठता है

'निष्फल दो-दो बार गई, हार गई माँ, हार गई।'

अबोध राहुल अब किशोर हो चला है। उनकी मानसिक बुद्धि का भी विकास हो पाया है और अब वैज्ञानिक बातों की जानकारी प्राप्त करना चाहता है। बच्चों में हवाई किला बनाने की भावना भी व्याप्त रहती है और वे एक नई दुनियाँ का निर्माण करने की कामना करते हैं। यह बच्चों के जीवन की आम बात है। बालक राहुल प्रकृति की विशेषताओं को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है,

'अम्ब मेरी बात कैसे तुझ तक जाती है ?'

जननी गोपा कहती है

'बेटा, वह वायु पर बैठ उड़ आती है।'

बच्चों में अपने पिता को देखने की भावना अन्तर्व्याप्त रहती है। और राहुल भी इसी कोटि का बालक है। उसने भी अपने पिता को नहीं देखा है, इसीलिए उसके बाल-सुलभ हृदय में एक नई भावधारा बहती है और वह पूछता है

'होंगे जहाँ तात क्या न होगा, वायु भी, वहाँ ?'

जननी यशोधरा प्रत्युत्तर में कहती है

'बेटा, जगत्प्राण वायु, व्यापक नहीं कहाँ ?'

परन्तु उसके हृदय में संतोष कहाँ ? उसे शंका होती है और उन प्रश्नों का समाधान राहुल-जननी करती जाती है। 'किन्तु द्रौपदी के दुकूल की भाँति राहुल की प्रश्नावली बढ़ती जाती है। उसे क्या मालूम कि मां के दिल पर क्या गुजर रही है और उसके प्रश्न उसके जीर्ण कंकाल पर कैसे पहाड़ ढो रहे हैं ? और इधर जननी यशोधरा भी काल-कूट को कंठमें रक्खे, भ्रान्ति-बिनिवृत्ति की कुंजी लिए खम ठोककर बैठी है। वह न तो ऊबती है, न झुँझलाती है और न रामजी के भरोसे पुत्र के प्रश्नों को जैसे-तैसे टालती ही है। आदर्श जननी की तरह वह समझती है इन शिशु-सुलभ प्रश्नों की उपयोगिता और राहुल के भावी जीवन में इनके निराकरण का महत्त्व।' × राहुल का हृदय अपने पिता को देखने के लिए मचल उठता है

'मंडल बना कर मैं घूमता गगन में,
औ देख लेता पिता बैठे किस वन में।'

काश ! राहुल को पंख होता। वह माँ से पूछता है

'मानवों को पंख क्यों विधाता ने नहीं दिये ?'

माता पुत्र के हृदय को थाह लेती है और उसके सम्बन्ध में कहती है

'पंखों के बिना ही उड़ें चाहें तो, इसीलिए !'

यह सुनकर राहुल कुछ समय के लिए सोचने लगता है मानव बिना पंखों के कैसे उड़ सकता है ? एकाएक उसे याद आती है रामयुग की कहानी और वह कह बैठता है

× गुप्तजी और उनकी यशोधरा-प्रो० केशरी कुमार, एम० ए०

'ओहो ! हनूमान उड़े जैसे माँ'

राहुल का कितना सुन्दर तर्क है। इससे राहुल का बालसुलभ चरित्र सजीव हो उठा है। माता यशोधरा 'जीवन के साधारण सताप' में अपने पुत्र राहुल को शिक्षा-दीक्षा देती है।

बच्चे कहानी सुनना पसन्द करते हैं और उनमें कहानी सुनने की मनोवृत्ति बचपन से ही रहती है। राहुल भी कहानी सुनने के लिए हठ ठानता है। यशोधरा कहानी कहती है पर उसका सम्बन्ध मानव-जीवन से है, जो बालकों को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में सहायक है। यशोधरा कहानी के द्वारा राहुल में एक नया ज्ञान भरती है, पर उस ज्ञान के विकास के लिए वातावरण तैयार नहीं करती। यों तो बालक की समग्र मनोवृत्तियों का उल्लेख अवश्य हुआ है और उसके विकास के उपादानों की चर्चा भी चली, पर उनका उपयोग नहीं किया गया है। 'कहानी आरंभ होती है। एक आखेटक के तीक्ष्ण बाण से विद्ध होकर एक हंस भूमि पर गिर पड़ता है। गौतम को अनुकम्पा होती है और वे उसे उठा लेते हैं। इतने में आखेटक आ धमकता है और पक्षी को माँगता है। शरणागत-वत्सल राजकुमार अपनी अस्वीकृति प्रकट करते हैं। अंत में बात न्यायालय में जाती है। कथावस्तु का यहीं अंत हो जाता है और उपसहार के रूप में यशोधरा राहुल से ही पूछती है

'राहुल तू निर्णय कर इसका, न्याय पक्ष लेता है किसका ?'

अर्थात इस मामले में किस पक्ष की विजय होगी ? न्याय किसे डिग्री देगा ? आदर्श जननी का आदर्श पुत्र जवाब देता है

'न्याय दया का दानी'

माता आनन्द विभोर हो जाती है और पुत्र को गले से लगा कर कहती है

'तू ने सुनी कहानी ।'

यशोधरा कहानी में भी शिक्षा के आदर्श को नहीं भूलती।'× राहुल कहानी सुनते-सुनते झपकियाँ भरने लगता है और राहुल-जननी लोरी गाकर उसे सुलाने का उपक्रम करती है

'सो, अपने चंचलपन सो! सो, मेरे अंचलधन सो !!'

वस्तुतः राहुल-जननी के विरह में 'गूदड़ी का लाल' ही उसकी सान्त्वना का साधन है। यही कारण है कि विरहिणी गोपा बधू बनने से माता रहना अच्छा समझती है

'बस, मैं ऐसी ही निभ जाऊँ !
राहुल, निज रानीपन देकर तेरी चिर परिचर्य्या पाऊँ।
तेरी जननी कहलाऊँ तो इस परवश मन को बहलाऊँ।'

इतना ही नहीं, गोपा तो नारी के मातृत्व को महत्ता की ओर संकेत करती है

'बधू सदा मैं अपने वर की, पर क्या पूर्ति वासना भर की ?
सावधान ! हां निज कुलधर की जननी मुझको जानो।'

वास्तव में नारी के मातृ-रूप की अवहेलना कौन कर सकता है ? नारी जगज्जननी है, वह हमारे पूर्वजों की माता है।

यों तो गौतम ने संसार के कल्याण के लिए अपनों से नाता तोड़ा, परिवार की उपेक्षा की, परन्तु यशोधरा की दृष्टि में

× गुप्तजी और उनकी यशोधरा प्रो० केशरी कुमार, एम० ए०

पारिवारिक स्नेह ही विश्व-प्रेम का जन्मदाता है। जननी यशोधरा यह अच्छी तरह समझती है कि नारी के मातृत्व-रूप का गौरव बुद्ध की तपस्या से किसी भी अंश में कम नहीं- इसीलिए अपने प्राणेश्वर को स्पष्ट शब्दों में कहा है

'तुच्छ न समझो मुझको नाथ।
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ।
तुल्य दृष्टि यदि तुमने पाई
तो हममें ही सृष्टि समाई।
स्वयं स्वजनता में वह आई, देकर हम स्वजनों का साथ।'

यही कारण है कि यशोधरा के जीवन का संबल, उसका आधार, उसका पुत्र राहुल है। वह अपने आप के लिए जी नहीं रही है बल्कि अपनी गूदड़ी के लाल के लिए आँखों का खारा पानी पी रही है। राहुल किशोर हो गया है, वह दुनियाँ को समझने लगा है और दुनियाँदारी को भी। राहुल अपने माँ की अन्तर्व्यथा से परिचित हो चला है और इसीलिए अब यशोधरा भी अपनी करुण कहानी अपने पुत्र से नहीं छिपाती क्योंकि राहुल बड़ा हो गया है और वह जीवन के सुख-दुख: का भागी है। इसी हेतु वह राहुल से अपने अंतर की पीडा को स्पष्ट शब्दों में कहती है

'बेटा रे, प्रसव की-सी पीडा मुझे होती है।'

यहीं पर यशोधरा अपने मातृत्व रूप का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करती है। राहुल माता की दयनीय दशा का भागी बन गया है और वह समझता है कि मेरी माता

'गाती है मेरे लिए, रोती उनके अर्थ,
हम दोनों के बीच तू पागल-सी असमर्थ।'

जननी यशोधरा अपने जीवन के धागों को अकलुष बना रही है, वह अपने कर्त्तव्य को पूर्ण रूप से पहिचानती है और उसके न्यस्त करने में अपने लघु जीवन की साधना को शाश्वत कर रही है। 'भव भव के भगवान्' माता यशोधरा के आँगन में आते हैं। माता यशोधरा भगवान् बुद्ध की आरती कैसे सजाती? उसके हाथ में है ही कहाँ कुछ? वह खाली हाथ खड़ी है, पर उसका गोद पूर्ण है। वह अपने प्रभु के चरणों पर पत्र-पुष्प, फूल-नैवेद्य के स्थान पर राहुल को भेंट देती है। गोपा अपने जीवन की सिद्धि को देखकर कृतकृत्य हुई। वह आज प्रसन्न है, क्योंकि उसने राहुल को बड़ा कर गौतम बुद्ध के चरणों से लगा दिया।

जननी-गोपा के जीवन-अंकन में गुप्तजी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। अगर जननी गोपा के जीवन का इतिहास इस पुस्तक में न होता, तो कला अंगविहीन हो जाती। यों तो कहीं-कहीं वातावरण, परिस्थिति आदि का उल्लेख हो ही पाया है, पर उसका सृजन नहीं हुआ है, यही विघ्न पाठकों को खटकता है। नहीं तो, कवि ने इसमें जननी के जिस रूप का आश्रय लिया है, वह हिन्दी-कविता के लिए मौलिक है।

यशोधरा में विरह-वर्णन

यह विदित है कि संयोग सुखमय और वियोग दुःखमय होता है 'परन्तु फिर भी मानव-मन निसर्गतः मिलन की अपेक्षा विरह की ओर अधिक आकृष्ट होता है और मन के मर्मी कवियों ने भी इन दोनों में विरह को ही कहीं अधिक महत्व दिया है।' क्योंकि विरह प्रेम का अकलुष रूप है और विरह की अग्नि में जल कर वह स्वर्ण बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस सबंध में स्पष्ट संकेत किया है कि 'विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है अथवा मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।' इससे स्पष्ट होता है कि मिलन की अपेक्षा विरह का महत्व अधिक है क्योंकि विरह में प्रेम उद्बुद्ध होता रहता है और मिलन में विरह का अंत हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'मिलन प्रेम का व्यय है और विरह उसका संचय।' कालिदास ने भी विरह के कारण को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है

'स्नेहावाहुः किमपि विरह व्यापदस्ते ह्यभोग्या।
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति।'

इसीलिए तो कवि-समाज में मिलन की अपेक्षा विरह का मान अधिक रहा है। किसी ने ठीक ही कहा है

And love is loveliest when embalmed in tears.

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि हमारे हिन्दी साहित्य में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का विरह वर्णन अधिक हुआ है और है भी सत्य। 'यह कोई आकस्मिक घटना या सयोग नहीं है इसके भी निश्चित कारण वर्त्तमान हैं। भारतीय आलोचकों ने कई प्रकार से इसकी संगति बैठाई है पार्थिव विरह वास्तव में अपार्थिव विरह का ही प्रतिम्बिब है और अपार्थिव-विरह में स्त्री-रूपिणी मानव-आत्मा ही परम पुरुष के विरह में व्याकुल रहती है, सच्चिदानन्द-घन परम-पुरुष में विरह कहाँ ? इसीलिए पार्थिव विरह में भी स्त्री का ही विरह प्रधान है। एक आध्यात्मिक कारण तो यह दिया जाता है। दूसरा एक अर्ध-मनोवैज्ञानिक कारण यह दिया जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का भाव-जगत् अधिक समृद्ध है और साथ ही वर्णन करने वाले पुरुष कवियों को स्वभावतः पुरुष की चेष्टाओं का अंकन करने की अपेक्षा स्त्रियों की वियोग-जन्य चेष्टाओं और कामदशाओं का अंकन करने में अधिक रस मिलता है, इसीलिए विरहिणी का महत्व अधिक रहा है।' यही कारण है कि कवियों ने स्त्री के विरहिणी रूप का अंकन सुन्दर ढंग से किया है।

गुप्तजी की 'यशोधरा' पतिवियुक्ता है और वह विरह की आँच में जल रही है। उसके स्वामी चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात बन गया है। विरहिणी यशोधरा का निखरा स्वरूप आदि से अंत तक मिलेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कह देना अनिवार्य है कि इसमें प्रेम की वियोगावस्था में स्थित दसों दशाओं का और वियोग के चारो अंगों का सुन्दर समन्वय हो पाया है। वियोग के चार अंगों पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण का वर्णन अन्यत्र हुआ है।

धनंजय के अनुसार वियोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पर कुछ लोगों ने ग्यारह कहा है, वह है मूर्च्छा। सर्वप्रथम दोनों के हृदय में अभिलाषा उत्पन्न होती है, फिर चिंतन, उसके बाद स्मृति, फिर गुणकथन और तदुपरांत क्रमशः उद्वेग, प्रलाप, उन्माद जड़ता, व्याधि और मरण। इस पुस्तक में विरहिणी यशोधरा के विरह की दस अवस्थाओं का न्यूनाधिक वर्णन मिलेगा। अब हम इस पर एक-एक कर विचार करते हैं।

अभिलाषा :

गौतम चोरी-चोरी चले गए, इसी की पीड़ा यशोधरा को सता रही है। पति परित्यक्ता यशोधरा का कहना है कि

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्रधर्म के नाते।'

इतना होने पर भी यशोधरा को विश्वास है कि उसके प्राणेश्वर एक न एक दिन अवश्य लौटेंगे और प्रिय का मिलन होगा भी अवश्य। वह प्रत्येक क्षण में प्रिय-मिलन का स्वप्न देखती है। पति परित्यक्ता गोपा की इस अभिलाष-मनोवृत्ति की हृदय-स्पर्शी तस्वीर खिंच आयी है। गोपा कहती है

'सखि, प्रियतम हैं वन में ? किन्तु कौन इस मन में ?
जैसे गन्ध पवन में ! सखि, प्रियतम हैं वन में ?
उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम !
यहीं, इसी आँगन में।'

जिस प्रकार गन्ध पवन का गुण नहीं है उसी प्रकार वन उनका आवास नहीं। गन्ध पुष्प का गुण है। अस्तु, गन्ध और पुष्प में शाश्वत सम्बन्ध है, ठीक इसी तरह गोपा और गौतम में सम्बन्ध है। गोपा को यह पूर्ण विश्वास है कि उसके जीवन-धन एक दिन आवेंगे अवश्य। इतना विश्वास होने पर भी पति-परित्यक्ता गोपा के हृदय में किसी दूसरे प्रकार की भावना व्याप्त नहीं है। अभिलाषिणी गोपा को गौतम के आगमन पर पूर्ण विश्वास है। यही पुनर्मिलन की भावना राहुल-जननी को 'सुन्दर मरण' वरण करने नहीं देती। चारो ओर निराशा के घनघोर बादल उमड़-घुमड़ रहे हैं, पर फिर भी गोपा मिलन की एक किरण को पाती है और इसी हेतु वह अपने प्रिय-मिलन के धैर्य को नहीं खोती।

'ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का, गिर न जाय वह थाली।
उड़ न जाय पंछी पाँखों का, आओ हे गुणशाली॥'

गोपा को अपने सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिए कहती है-

'मेरे ये निश्वास व्यर्थ। यदि तुमको खींच न लाए।'

इसी प्रिय-मिलन की आशा ने यशोधरा की टूटी किश्ती को डूबने से बचा लिया है, न तो वह कब.हो मृत्यु के तममय गह्वर में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देती। यशोधरा यह देखती है कि सिर्फ वह ही अपने प्रिय-मिलन के लिए विकल नहीं, बल्कि बेचारी चातकी का भी बुरा हाल है। गोपा उसे अपनी-सी स्थिति में पाकर अपनी पीड़ा भूल जाती है और उसके साथ उसको सहानुभूति हो जाती है। उससे चातकी

की पीड़ा देखी नहीं जा   अस्तु, वह चातकी को ही सुखी देखना अच्छा समझती है और यही कारण है कि वह कल्याण का राग गाती है

'भटकी होय ! कहां धन की सुध, तू आशा पर अटकी,
मुझसे पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की ।'

समय बीतता जाता है । यशोधरा सूख कर काँटा हो गई है, पर उसके अन्तर में प्रिय-मिलन की आकांक्षा प्रबल और दृढ़तर है । यहां तक कि वह अपने पुत्र राहुल से कहती है

'धीरज धर बेटा ! अवश्य हम उन्हें एक दिन पायेंगे ।'

वह प्रिय-मिलन के सामने जन्म-मरण की परवाह नहीं करती और उसका अभीष्ट भी है प्रिय-मिलन । अंत में वियोग-विधुरा गोपा को गौतम से भेंट होती है । अस्तु, इस अभिलाष मनोवृत्ति के उद्घाटन में गुप्तजी ने अनेक अन्तर्दशाओं का आश्रय लिया है और इसका प्रत्यक्षीकरण पल-पल में होता है ।

चिन्ता

वियोग की दूसरी मनोवृत्ति है चिन्ता और 'इस अवस्था में इष्ट और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति की कल्पना से घबड़ाहट होती है ।' गौतम बिना कहे घर-बार छोड़कर निकल गए हैं । गोपा और उनका परिवार रो पड़ता है । विरहिणी यशोधरा की दशा को देखकर महाराज शुद्धोदन चिंतित है । महाराज शुद्धोदन कोमलांगी यशोधरा से पूछते हैं

'धीरा है यशोधरे, तू, धैर्य कैसे मैं धरूँ ?
तू ही बता, उसके लिए मैं आज क्या करूँ ?'

परन्तु यशोधरा वीर क्षत्राणी की भाँति उत्तर देती है

'उनकी सफलता मनाओ तात, मन से,
सिद्धि लाभ करके वे लौटें शीघ्र बन से।'

लेकिन शुद्धोदन फिर कहते हैं

'तू क्या कहती है बहू, पाऊँ मैं जहाँ कहीं,
चतुर चरों को भेज खोजूँ भी उसे नहीं ?'

पति-वियुक्ता गोपा अपने श्वसुर शुद्धोदन को समझाती हुई कहती है-

'किन्तु खोज करना उन्हीं के प्रतिकूल है।

महाराज शुद्धोदन प्रश्न करते हैं 'कैसे'

यशोधरा फिर कहती है

तात, सोचो, क्या गए वे इसी अर्थ हैं,
'खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?'

वस्तुत. खोज तो उन्हीं की होती है जो असमर्थ है। राजा शुद्धोदन की दृष्टि में गौतम भोले-भाले हैं, परन्तु गोपा का कहना है

'पा लिया उन्होंने किन्तु ज्ञान का उजाला !'

अस्तु, गोपा गौतम की खोज के लिए न स्वयं निकलती है और न किसी दूसरे को भेजती है। उसकी तो धारणा है कि उनके स्वजन उनके कार्यों की सफलता की शुभकामना करें।

स्मृतिः

विरह की तीसरी अवस्था है स्मृति, जब कि बीती बातों का स्मरण होता है। यों तो यशोधरा शिशु राहुल की परिचर्या

में निरत है ही, पर उसे बार-बार प्रिय की याद रुला जाती है। उसे उस दिन की याद रुला रही है, जब वह कुमारी गोपा थी और उन्हीं दिनों उसके अन्तःकरण में पूर्व-राग का उदय हुआ था। यही याद गोपा को सता रही है

'प्रियतम ! तुम श्रुति-पथ से आये।
तुम्हें हृदय में रखकर मैंने अधर-कपाट लगाये।'

इतना ही नहीं, इसके उपरान्त स्वयंवर रचा गया और उसमें उनकी परीक्षा भी ली गई। उसकी याद अब तक गोपा को बनी हुई है

'मेरे लिए पिता ने सबसे धीर-वीर, वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय ! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा।'

इतना तो हुआ ही। गौतम को जिन-जिन वस्तुओं से प्रेम था, जिसको प्यार करते थे, उसको देखकर गोपा के हृदय में स्वामी की स्मृति जाग्रत हो उठती है

'उनका यह कुंज-कुटीर वही, झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर शिखी सब हैं सुन चातक की रट 'पीव कहाँ ?'

यशोधरा ने राहुल को मानव-जीवन की ऐसी कहानी कही कि जिसमें बुद्ध की दया टपक पड़ी है। 'माँ कह एक कहानी' वाले' पद में कितनी मधुर स्मृति है। रोहिणी नदी की तीर की स्मृति गोपा के मानस में है और वह कहती है

'रोहिणी, हाय ! यह वह तीर,
बैठते आकर जहाँ वे धर्मधन, ध्रुवधीर।

मै लिये रहती विविध पक्वान्न भोजन, खीर,
वे चुगाते मीन, मृग, खग, हंस, केकी, कीर।'

स्मृति का कितना स्वाभाविक वर्णन हुआ है। कुछ इसी प्रकार की स्मृति पति-पत्नी के परिहास में भी है।

गुण-कथन:

जहाँ एक ओर प्रिय की स्मृति जाग्रत हो उठती है, वहाँ दूसरी ओर इसके साथ-ही-साथ गुण-कथन का भी आरंभ हो जाता है। प्रिय की स्मृति वियोगिनी के जीवन को पीड़ा देती है और अगर वियोगिनी का ध्यान दूसरी ओर न खिंच जाय तो करीब-करीब उसके जीवन का अंत ही हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रिय-स्मृति के साथ गुण-कथन तथा उसकी कार्यावली की तस्वीर आप से आप खिंच आती है। यह गुण-कथन-मनोवृत्ति वियोगिनी वाला के जीवन का संबल हो जाता है, यही उसका सहारा है, यही उसकी किश्ती है। गुप्तजी की यशोधरा में इस मनोवृत्ति का सुन्दर परिपाक हुआ है। गुण-कथन के अन्तर्गत प्राणेश का सौन्दर्य, शौर्य, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, हास, आलाप, रूप, रंग, वेषभूषा, अस्त्र, शस्त्र आदि आते हैं।

विरह-विधुरा यशोधरा की टूटी किश्ती मंझधार में भी अपना किनारा खोजती हुई जा रही है, उसका जो भी आधार है, वह है गुण-कथन की मनोवृत्ति। गोपा तो स्वीकार करती है

'मेरे लिए पिता ने सबसे धीर-वीर वर चाहा,
देख कराल काल-सा जिसको कांप उठे सब भय से,

गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से ?'

इतना ही नहीं, स्वामी का गुण-कीर्तन करती हुई वियोगिनी गोपा कहती है

'स्वामी के सद्‌भाव फैल कर फूल-फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानों नूतन निर्झर छूटे।'

उद्वेगः

विरहिणी गोपा अपने जीवन-धन का गुण-कीर्तन करती हुई इस प्रकार विरहाग्नि में जलने लगती है कि वह बाह्य-प्रकृति और अन्तर्जगत् में एकरूपता का आभास पाती है। उसके विरहमय जीवन के सम्मुख प्रसन्नता प्रदान करने वाली प्रकृति भी अरण्य-रोदन करती हुई दृष्टिगत होती है। गोपा के लिए सारी सृष्टि अप्रिय है क्योंकि उसके जीवनधन उसकी आँखों से ओझल हैं। यही कारण है कि वह अपने जीवन को अंत कर देना ही श्रेयष्कर मानती है

'मरने से बढ़कर जीना, अप्रिय आशंकाएँ करना।
भय खाना, हा, आंसू पीना।'

यशोधरा की दृष्टि में 'अब क्या रक्खा है रोने में ?'

जबकि उसने पलकों में रात काट दी। अब रात शेष हो रही है और चन्द्रमा का मुखमंडल मलिन होता जा रहा है। वह इन्दुकला को इस भाँति सहदुःखिनी पाकर संवेदना प्रकट करती है

'इन्दुकले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में।

यशोधरा अपने हृदय के भावों को दूसरे ढंग से प्रकट करती है क्योंकि उसके अन्तर की पीड़ा प्रकृति के हृदय में भी व्याप्त हो गई है। इसीलिए उसकी दृष्टि में सभी कुछ असुन्दर, नीरस एवं फीके हैं। इसी उद्वेग के कारण वह पवन से कह रही है

'पवन, तू शीतल-मन्द-सुगन्ध !
इधर किधर आ भटक रहा है ? उधर उधर, ओ अन्ध !
तेरा भार सहें न सहें ये मेरे अबल-स्कन्ध !
किन्तु बिगाड़ न दें ये साँसें तेरा बना प्रबन्ध !

यशोधरा के अन्तर्प्रदेश मे सिर्फ उद्वेग ही नहीं बल्कि

'अन्दर ही अन्दर आग लगी जाहिरा धुआँ लापता हुआ।'

उन्माद

उन्माद का अर्थ ही है भय, शोक आदि के कारण चित्त की भ्रान्ति। इस स्थिति मे उन्मादक-हृदय अपने आपको नहीं पहचानता, न उसमे विवेक ही रह पाता है, न वह उचित-अनुचित का ज्ञान रखता है। उसकी मानसिक अवस्था कुछ ऐसी ही रहती है कि वस्तुओं के तत्त्व से अपरिचित रहता है। क्योंकि उसकी बुद्धि का स्क्रू ही ढाला पड़ जाता है और उसके मन में जो अनाप-सनाप आ जाता है, वह उसके मुख से निकल ही पड़ता है। 'वह चेतन को अचेतन और आम को नीम समझने लगता है। कभी रोता है, तो कभी हँसता, कभी ऊपर की साँस लेता है तो कभी नीचे की। हृदय के पेंडुलम की गति रुकने की नौबत आ जाती है। उसे यह खबर नहीं रहती कि वह क्या, क्यों और किससे बोल रहा है। प्रेम-वियुक्त चित्त

की इस क्षुब्ध-वृत्ति का नाम उन्माद है।' पति-वियुक्ता उद्विग्न यशोधरा के साथ यही बात लागू होती है। वह जैसे ही छन्दक के द्वारा सुनती है कि

'हाय ! काट डाले वे केश !

चिकने-चुपड़े, कोमल-कच्चे, सच्चे सुरभि-निवेश !'

और सन्यास की साधना करने को प्रयाण कर चुके हैं वैसे ही गोपा उन्मादिनी की भाँति बिना कुछ सोचे-समझे कह उठती है

'जाओ, मेरे सिर के बाल !

आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?

डँसे न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल।

कसे न और मुझे अब आकर हेमहीर, मणिमाल।'

विरहिणी गोपा का प्रेमोन्मत्त-हृदय अपने विरही-जीवन का प्रतिबिम्ब विश्व की प्रकृति में देखता है। प्रकृति की यह संवेदना देखकर यशोधरा को बड़ी सांत्वना और शान्ति मिलती है। गोपा की पीड़ा इतनी तीव्र हो गई है कि उसे यह नहीं प्रतीत होता है कि

'यह प्रभात या रात है घोर तिमिर के साथ,

नाथ, कहाँ हो हाय तुम ? मैं अदृष्ट के हाथ !'

एक स्थल पर गोपा की पीड़ा बहुत भीषण रूप धारण कर लेती है।

यशोधरा 'बेटा,..बेटा आ मेरी छाती से लग जा।'

(बलपूर्वक भेंटती है)

राहुल 'ओह ! ओह !'

गौतमी छोड़ दो, छोड़ दो, देवि, कुमार को यह क्या करती हो ?'

प्रलाप :

प्रेमोन्मत्त हृदय अपने अभीष्ट को भूल जाता है और असंबद्ध प्रलाप करने लगता है। उसके प्रलाप में कोई सार-तत्त्व नहीं रह पाता है। विरहिणी गोपा में भी इस मनोवृत्ति का पाया जाना स्वभावतः अनिवार्य है और उसका अभास कहीं कहीं है भी। प्रेमोन्मत्त-हृदय जब वियोग की असह्य ज्वाला में जलने लगता है और उसका सहना दुर्वार हो जाता है तब उसके अंतर से सहज रूप से ही असंबद्ध उद्गार आप से आप निकलने लगते हैं, यही प्रलाप बन जाता है। गोपा कहती है

'आली, पुरवाई तो आई, पर वह घटा न छाई।
खोल चंचुपट चातक, तूने वृथा उठाई।'

व्याधि :

व्याधि का अर्थ है रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन का संताप। गोपा के जीवन-धन अनिश्चित अवधि के लिए चले गए हैं। उसे यह ज्ञात नहीं है कि वे कब लौटकर आयेंगे। वह रोती है, तड़पती है, तिलमिलाती है और सिर्फ यह कहकर संतोष करती है कि

'गोपा गलती है पर उसका राहुल तो पलता है।'

पर वास्तव में पति-वियुक्ता गोपा को इससे चैन नहीं। वह दिन-रात अपने पति की याद में घुलती जाती है और सूख कर काँटा हो गई। उसके शरीर में रक्त की तरल लालिमा नहीं, बल्कि सिर्फ अस्थि-पंजर अवशिष्ट रह गया है। गोपा विरहाग्नि में जलकर कृशता की कठपुतली बन गई है।

अबोध राहुल भी अपनी माँ की कृशता से परिचित है। देखिये, राहुल कहता है

'तेरा मुँह पहले बड़ा था? अम्ब कह तू।
"रह गया तेरा मुँह छोटा" यही कह के,

आगे फिर कहता है

'अम्ब, जब तात यहाँ लौट कर आयँगे,
और वे भी तेरा मुँह छोटा बतलायँगे,
तो मैं, सुन उनसे कहूँगा बस इतना
मुँह जितना हो किन्तु मानी मन कितना?'

इतना ही नहीं, राहुल अपनी माँ की तस्वीर को भी ठीक से नहीं पहचान पाता है

'अरे, यह तो देख! पिता के पास ही यह कौन खड़ी है?
वे उसे मरकत की माला उतार कर दे रहे हैं।
वह हाथ बढ़ा कर भी संकुचित-सी हो रही है।
सिर नीचा है, फिर भी अधखुली आँखें उन्हीं की ओर लगी है।
माँ यह कौन है?"

विचारा अबोध बालक कृशता की पुतली को देखकर पहचानने में अशक्त हो जाता है। कितना मार्मिक वर्णन है!

जड़ता:

जड़ता चित्त की विमूढात्मक वृत्ति है। यशोधरा के विरह का ताप बढ़ता गया। वह सूखकर काँटा हो ही गई है। गोपा चलने फिरने में असमर्थ है और उसके शरीर की शक्ति लुप्त हो गई है इसी कारण —

सिंहनी सी काननों में, वियोगिनी-सी शैलों में।
शफरी सी जल में, विहङ्गिनी-सी व्योम में।
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं।

तो वह कहती-कहती मूर्च्छावस्था को पहुँच जाती है। इसकी सूचना महाप्रजावती देती है

'बेटी; उठ, मैं भी तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा।
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोड़ूँगा।
तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है।
गोपा-विना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।
जाओ, अरे, कोई उस निर्मम से यों कहो-
झूठे सब नाते सही, तू तो जीव मात्र का,
जीव-दया-भाव से ही हमको उबार जा!'

मरण :

'चित्तवृत्ति की ऐसी दशा जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्यु कष्ट नगण्य जान पड़े।' नारी यशोधरा विरह-वह्नि में भस्म हो रही है। और मर जाना ही अच्छा समझती है। यों तो प्रायः विरहिणी मरण के आवरण में अपना मुँह छिपाना ही चाहती है, पर वह उससे अलग भी हो जाती है। बिहारी की नायिका की विरह-वह्नि इतनी तीव्र है कि

'नित संसौ हंसौ बचतु, मानौ इहि अनुमान।
विरह अगनि लपटनि सकै, झपटि न मीच सिचान।'

गुप्तजी की गोपा के समक्ष 'मरण' भी सुन्दर बन कर आया, लेकिन 'मौत आती है पर नहीं आती।' मरण का 'शरण' भी गोपा को भाया अवश्य, किन्तु उसकी दशा क्या हुई, यह भी राहुल-जननी के मुख से सुन लीजिये

''आली, मेरे मनस्ताप से पिघला वह इस बार,
रहा कराल कठोर काल सो हुआ सदय सुकुमार।
नर्म सहचर-सा छाया री!
मरण सुन्दर बनकर आया री!'

पर गोपा 'मरण' को अपने आँचल में कैसे सवाँरती ? भगवान् बुद्ध ने तो उसे मरने से भी रोक रखा है और इसलिए कहती है

'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार।
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार।'

इसलिए वियोगिनी यशोधरा मरने से बच जाती है।

अब तक हमने देखा कि गुप्त जी ने विरह की दस अवस्थाओं का स्वाभाविक वर्णन किया है और उन्होंने इस बात पर हमेशा ध्यान रक्खा है कि विरह-वर्णन में कहीं अस्वाभाविकता की बू न टपक जाय। यही कारण है कि इनका विरह-वर्णन वास्तविकता के रंग में रगा हुआ है।

इसके अतिरिक्त, इसमें प्राचीन परिपाटी का अन्य ढंग भी ढ़लक पड़ा है जिसके अन्तर्गत शकुन-वर्णन, स्वप्न-वर्णन, पत्र या संदेश द्वारा वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन आदि आता है।

शकुन-वर्णन हिन्दी कविता के विरह-वर्णन की पुरानी परिपाटी है। इसका भी निदर्शन है, जो देखते ही बनता

है। गौतम गोपा को सोते छोड़ गए हैं और गोपा अपनी एक सखी से कहती है

'सखि वे कहाँ गये हैं? मेरा बायाँ नयन फड़कता है।
पर मैं कैसे मानूँ?' देख यहाँ यह हृदय धड़कता है।'

यह आम घरों में कहा जाता है कि स्त्रियों का बायाँ नयन शुभ-शकुन की सूचना देता है और मर्दों का दाहिना नयन। हमारा राष्ट्रीय कवि भी इस शुभ-शकुन से पूर्ण रूप में परिचित है। विश्व को निर्वाण मिलने जा रहा है इसी शुभ शकुन की अभिव्यक्ति उसकी फड़कती हुई बाँयी आँख करती है। परन्तु, तो भी उसका हृदय धड़कता है। गौतम निर्वाण के साधन से परिचित होकर घर लौटते हैं; उस समय भी नारी गोपा का बाँया अंग फड़क उठता है, जो शुभ की सूचना देता है

'क्यों फड़क उठे ये वाम अंग? ज्यों उड़ने के पहले विहंग।'

यशोधरा के विरह का वर्णन करते हुए गुप्तजी ने 'षट्-ऋतु-वर्णन' के सहारे उस प्राचीन परिपाटी का नवीन प्रयोग किया है, यथा

'तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कंठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अंधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।
मेरा ताप और तप उनका, जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा सभी ने मेरी बाधा व्यथा सही।'

इसमें कवि ने यशोधरा के सन्देश को पवन और नदी के द्वारा भी भिजवाने का प्रयत्न किया है —

'नदी प्रदीप दान ले।

कह देना इतना ही उनसे, जब उनको पहचान ले

'धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले।'

यशोधरा के विरह-वर्णन के सिलसिले में कवि ने 'स्वप्न' का भी संकेत किया है। देखिये गोपा कहती है —

'ओहो, कैसा था वो सपना?

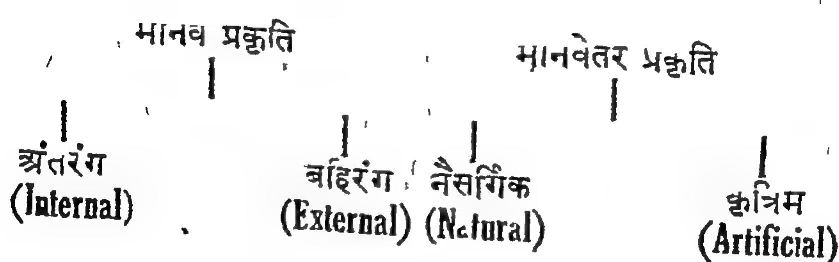
देखा है रजनी में सजनी, मैंने उनका सपना।'

अंत में कुछ शब्द और।

विरह-वर्णन की दृष्टि से तो 'यशोधरा' अभिनव काव्य है और कहीं भी वियोग-वर्णन अपनी निश्चित सीमा को पार कर हास्यास्पद नहीं हो पाया है। प्रवास-जनित विरह की अन्तर्दशाओं का सुन्दर परिपाक हुआ है। यशोधरा के विरह-वर्णन में कवि ने प्राचीन और नवीन का सुन्दर संतुलन किया है। यही कारण है कि विरह-वर्णन की अंत-दशाओं का अंकन अतिसुन्दर, स्वाभाविक, सयमित एवं नवीन हो पाया है जो हिन्दी कविता को ऊँचे स्थान पर बैठा देती है। और वस्तुतः गुप्तजी का अभीष्ट था गोपा के अश्रु-कणों का तार गूंथना। बस!!

यशोधरा में प्रकृति-चित्रण

सृष्टि के साथ मानव-हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही काव्य का लक्ष्य है। मानव-हृदय भावों का अथाह सागर है और इन भावों को शेष सृष्टि के साथ जोड़ देना ही हमारी काव्यगत सफलता है। अतः हम कह सकते हैं कि कविता मानव की ही नहीं बल्कि व्याप्त प्रकृति की सांस है। इस व्याप्त प्रकृति के अंतर्गत दो प्रकार की प्रकृति है मानव और मानवेतर प्रकृति। ये दोनों भी दो भागों में विभक्त की जा सकती है



'मानव-हृदय की सौन्दर्यानुभूति जब वहिर्मुखी होती है तो वह मानव-प्रकृति के वहिरंग सौन्दर्य से और मानवेतर प्रकृति के कृत्रिम सौन्दर्य से आकर्षित होता है। किन्तु जब उसकी वृत्ति अंतर्मुखी होती है तो उसका संबध मानव-प्रकृति के अंतरंग सौन्दर्य से और मानवेतर प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य से अनायास ही जुड़ जाता है। रीतिकाल के कवियों की दृष्टि मुख्यतः वहिर्मुखी थी; अतः 'पंत के शब्दों में उन (शृंगार-प्रिय) कवियों के लिए शेष

रह ही क्या गया ? उनकी अपरिमेय कल्पनाशक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के अंग प्रत्यंग में लिपट गई ।' आदिकाल से आज तक हमारे हिन्दी कवियों ने मानव-प्रकृति को काव्य का मुख्य अंग माना है पर मानवेतर प्रकृति को कम। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति में मानवीय भावनाओं को उद्रेक करने की शक्ति नहीं बल्कि कवियों ने इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा है। पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी आदि प्रकृति के ऐसे अंश हैं जिनसे मानव का साहचर्य बहुत ही प्राचीन है, क्योंकि मानव का जन्म इसी की गोद में हुआ है। आदिकाल से हम प्रकृति के जड़ और चेतन दोनों से संघर्ष करते आए हैं। इस संघर्ष के बीच मानव ने प्रकृति के रहस्यपूर्ण तथ्यों का अनुसंधान किया है और उसके परख करने का दृष्टिकोण बदल गया है।

प्रकृति जीवन का एक अपरिहार्य अंग है, पर हिन्दी कविता के पिछले युगों में प्रकृति का उपयोग अधिकांशतः रसोद्दीपन के रूप में, दृष्टान्त के रूप में और उक्ति-चमत्कार के रूप मे हुआ है। इनमें से उद्दीपन के लिए प्रकृति का अधिक साहाय्य लिया गया है, पर प्रकृति को शुद्ध वर्णननीय विषय कुछ कवियों ने माना। आज प्रकृति निरूपण करने का ढंग बदल गया है। अब वह उद्दीपन नहीं रही बल्कि स्वयं एक आलंबन बन गई। जब हमारी सभ्यता विभीषका की अंतिम शिखर पर पहुँच गई तब मानव प्रकृति की गोद मे शान्ति की प्राप्ति के लिए आ लुढ़का। उसी प्रकृति का संस्मरण साहित्य का अंग बन गया। उसका एकमात्र कारण यह है कि प्रकृति मानव

की शाश्वत सहचरी है और इसका मानव-जीवन पर अमिट प्रभाव है। आज हमने अपने सामाजिक जीवन को उन्नत, समृद्ध तथा संश्लिष्ट बनाने के लिए प्रकृति को साधन बनाया, क्योंकि उसमें जीवन और हृदय का अमर स्पन्दन है। गुप्तजी ने भी इसी को अपने हृदय से लगाया और वे भी मानवेतर प्रकृति के जीवित, जाग्रत और स्पन्दित रूप की सौन्दर्यमयी अनुभूति से वंचित न रह सके।

गुप्तजी ने जीवन और काव्य में करुणा को प्रश्रय अधिक दिया है और इसी करुणा-तत्व ने ही उन्हें प्रकृति की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने भी प्रकृति को जीवन का एक अंग माना है और उसकी महत्ता की ओर हमारा अवधान खींच रक्खा है। यों तो वे प्रकृति के कवि नहीं, पर वे प्रकृति के प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। प्रकृति के उपादान 'यशोधरा' में यत्र-तत्र कई रूपों मे बिखरे पड़े हैं और इसी का अवलोकन करना हमारा अभीष्ट है।

भिन्न भिन्न कवियों ने प्रकृति का वर्णन अनेक शैलियों में किया है। हिन्दी के कवियों नें अपनी-अपनी विशेष भावनाओं को लेकर प्रकृति का वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया है

(क) यथातथ्य प्रकृति-चित्रण (ख) प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोप (ग) मानव भावनाओं और कार्यों की भूमिका अथवा पृष्ठभूमि (Background) के रूप में प्रकृति चित्रण। जिसके अन्तर्गत प्रकृति कहीं अनुकूल बनकर आती है और कहीं प्रतिकूल (घ) पूर्व पीठिका के रूप में प्रकृति-चित्रण

(ङ) उद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन (च) प्रतीकात्मक रूप में (छ) बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में (ज) उपदेशात्मक रूप में (झ) अलंकार प्रदर्शन के रूप में (ञ) दूतिका के रूप में।

अब हमें यह देखना है कि गुप्तजी ने प्रकृति-चित्रण में किन किन रूपों का आश्रय लिया है। यह तो अच्छी तरह मालूम है कि गुप्तजी द्विवेदी-युग के कवि हैं और इस युग के कवियों की कविताओं में यथातथ्य प्रकृति-चित्रण का बाहुल्य रहा है। गुप्तजी ने भी इस यथातथ्य प्रकृति का अवलोकन किया है, यथा-

'वर्षा वर्षा के फूल खिले थे,
झलमल कर हिम-बिन्दु मिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे, लहराता था पानी।'

कवि ने प्रकृति को जिस रूप में देखा है, उसी रूप में वर्णन करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रकृति के चित्रण करने में वर्णनात्मक ढंग (Narrative) को अपनाया है

"गाते थे खग कल-कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से
गिरा, बिद्ध होकर खर-शर से। हुई पक्ष की हानी!'

या

'ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं।'

गुप्तजी ने भी प्रकृति में मानव-भावनाओं का आरोप किया है। इसके अन्तर्गत प्रकृति के उपादान अपने वास्तविक

स्वरूप को बनाये रख कर केवल उन भावनाओं से युक्त दिखाई देते हैं, जो मानव-हृदय की वस्तुएँ हैं। जिस प्रकार प्रातःकाल में मनुष्य चारपाई से उठकर अपना मुख दर्पण में देखता है उसी प्रकार किरण भी सवेरा होने पर अपना मुखड़ा हिमकण-दर्पण में देखता है

'किरणों ने कर दिया सवेरा,
हिमकण दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा, उठ, पंकज पर पड़े पराग !'

कहीं-कहीं कवि ने मानव-हृदय की भावनाओं और कार्यों की भूमि अथवा पृष्ठाधार (Background) रूप मे प्रकृति को सजाने की चेष्टा की है। पृष्ठाधार के रूप में प्रकृति कहीं अनुकूल बनकर आती है और कहीं प्रतिकूल। अनुकूल पृष्ठाधार के रूप का निदर्शन देखिये

(क) 'जागा नूतन गंध पवन में
उठ तू अपने राज भवन में,
जाग उठे खग वन उपवन में, और खगों में कलरव राग !'

(ख) 'फूलों पर पद रख, कूलों पर रच लहरों से रास,
मन्द पवन के स्यन्दन पर चढ़ बढ़ आया सविलास।'

प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप मे

'प्रकट कर गई धन्य रस-राग तू! पौ, फटकर भी निरुपाय।
भरे हैं अपने भीतर आग तू! री छाती, फटी न हाय !'

प्रतिकूल पृष्ठाधार रूप में प्रकृति का यह अत्यन्त ही सुन्दर उदाहरण है। इसके दृष्टान्त-स्वरूप कुछ और देखिये

(क) 'दरक कर दिखा गया निज सार जो,
हँस दाड़िम, तू खिल खेल,
प्रकट कर सका न अपना प्यार जो,
रो कठिन हृदय, सब झेल।'

(ख) बलि जाऊँ, बलि जाऊँ चातकि, बलि जाऊँ इस रट की।
मेरे रोम रोम में आकर यह काटे-सी खटकी।
भटकी हाय कहा घन की सुध, तू आशा पर अटकी,
मुझसे पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की।

हमने पहले ही संकेत कर दिया है कि रीतिकाल के कवियों ने प्रकृति का उपयोग उद्दीपन के रूप मे किया है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि आधुनिक युग के कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में देखा ही नहीं। बल्कि आज के कवियों ने भी प्रकृति को उद्दीपन के रूप में देखने का प्रयत्न अवश्य किया है लेकिन उनका दृष्टिकोण कुछ नया है। गुप्तजी ने भी इस रूप का आश्रय लिया, क्योंकि प्रकृति यशोधरा के विरह को तीव्र करने में सहायक है। प्रकृति को उद्दीपन के रूप में चित्रित करने की एक परम्परा आज से नहीं, प्राचीन युग से ही चली आ रही है, जिसके अन्तर्गत 'बारह-मासा,' 'षट्ऋतु-वर्णन' आदि हैं। यशोधरा के विरह में भी प्रकृति ने उद्दीपन का कार्य व्यस्त किया है। बसन्त का आगमन हो गया है। कोयल कूकती है। यशोधरा देखती है कि

'समय स्वयं यह सजा रहा है डगर डगर में डाली,
मृदु समीर-सह बजा रहा है नीर तीर पर ताली।'

'इसी प्रकार

'लता कण्टकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली,
फूल उठी है हाय! मान से प्राण भरी हरियाली।'

में 'कण्टकित' शब्द के श्लेष से, 'कपोल-लाली' के उपमान से, 'लता के गुलाब-पुष्प शोभा के व्याज से' 'बनमाली' के रूप में 'यशोधरा' जैसे गौतम को ही बुला रही है। 'कूक उठी है कोयल काली' में एक अलङ्कार मे हृदय की विदग्ध करुणा और प्रोषित पतिका की छटपटाहट मानस-चित्र का रूप ग्रहण कर लेती है वह प्रकृति के कारण ही तो।' इतना ही नहीं, यशोधरा की आँखों मे विगत वसन्त की याद सवाक्-चित्र की भाँति नर्त्तन करती है। उसका हृदय हाहाकार कर उठता है। लताओं को पल्लवित होते और वृक्षों मे फलों को फलते देख, यशोधरा की नारी तिलमिला उठती है

'फलों के बीज फलों में फिर आये, मेरे दिन फिरे न हाय!'

इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक उपादान, पवन मे भी उद्दीपन-शक्ति है। पवन का शीतल होकर बहना भी यशोधरा के हृदय को वेदना से भरने मे सहायक होता है। यशोधरा की वेदना उद्दाम होकर तीव्रतर होती जाती है और अंत में कहती है

'पवन, तू शीतल-मन्द-सुगन्ध!
इधर किधर आ भटक रहा है? उधर उधर ओ अन्ध!
तेरा भार सहें न सहें ये मेरे अबल-स्कन्ध!
किन्तु बिगाड़ न दें ये सांसें तेरा बना प्रबन्ध!'

यहाँ पर-प्रकृति उद्दीपन-विभाव के रूप में आई है।

गुप्तजी ने 'यशोधरा' के प्रकृति-वर्णन में उस प्राचीन परिपाटी का नवीन प्रयोग किया है, पर उसमें प्रकृति का रूप और व्यापार, सहानुभूति और संवेदना सब यशोधरा की अपनी व्याख्या के रूप में आए हैं। यशोधरा अनुभव करती है कि उसी की भाँति पृथ्वी भी गौतम की अनुपस्थिति में तिल-तिल जल रही है। एक ओर गौतम तपस्या की अग्नि में जल रहे हैं, दूसरी ओर गोपा विरह की अग्नि मे तप रही है और तीसरी ओर पृथ्वी भी जल रही है। इस प्रकार सारा विश्व यशोधरा के विरह में हाथ बटाँ रहा है, सारी प्रकृति संवेदनशील है। यहाँ पर कवि ने मानवेतर जगत और मानव जगत की चेष्टाओं में बिम्ब-प्रति बिम्बभाव प्रदर्शित करने का भरसक प्रयत्न किया है

(क) 'मेरा ताप और तप उनका, जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने मेरी बाधा-व्यथा सही।'

(ख) 'सखि, वसन्त से कहाँ गये वे मैं ऊष्मा सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने मेरी बाधा-व्यथा सही।'

बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देखिए

'रवि पर नलिनी की, पितृ-छवि पर मेरी दृष्टि तब जा रही,
वहा अंक में मधुप, यहा मै, गिरा एक गुण गा रही।'

कितना सुन्दर निदर्शन है। उधर नलिनी (कमलिनी) सूर्य की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रही है और इधर गोपा गौतम के ध्यान में बैठी है। उधर नलिनी के अंक में मधुप बैठा है और इधर राहुल। उधर मधुप ऊषा का गुण गा रहा है, और इधर राहुल गौतम की प्रशंसा कर रहा है।

द्विवेदी-युग के कलाकारों का मुख्य उद्देश्य रहा है मानव जीवन को एक सन्देश देना। गुप्तजी तो इसी युग के कवि हैं और उन्होंने भी प्रकृति के आवरण से मानव-जीवन को एक सन्देश दिया है। जिस प्रकार वर्डसवर्थ ने यह माना है कि Nature is the teacher उसी प्रकार गुप्तजी ने भी प्रकृति को अध्यापिका के रूप में देखा है। इस पुस्तक में गुप्तजी का मुख्य उद्देश्य रहा है वैष्णव-भावना की स्थापना करना। वैष्णव-भावना की पुष्टि के लिए उन्होंने शेष सृष्टि के अवयवों को साधन बनाया है। यह तो मानी हुई बात है कि संसार की प्रत्येक वस्तु 'सर्व क्षणिकं, सर्वशून्य' है, जिसके सबंध मे गौतम ने कहा है –

'मै सूँघ चुका वे फुल्ल फूल,
झड़ने को हैं सब झटित झूल।'
चख देख चुका हूँ मै, समूल—सड़ने को हैं वे अखिल आम।

परन्तु गोपा का कथन है कि व्यष्टिरूप से एक फूल का विनाश भले ही हो जाय लेकिन समष्टि रूप मे वह अमर है, नित्य है और है शाश्वत भी। यशोधरा का तो कहना है कि

'माना, ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं,
जाना, ये दाड़िम, आम सभी सड़ते हैं।
पर क्या यों ही कभी टूट पड़ते हैं?
या काटे ही चिरकाल हमें गड़ते हैं?
मैं विफल तभी, जब बीज रहित हो जाऊँ।'

इसके अतिरिक्त, गुप्तजी ने अनेक स्थलों पर यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि प्रकृति से मानव-जगत ने उपदेश भी ग्रहण किया है। यहाँ पर दो उदाहरण और दिया जाता है

(क) 'जलने को ही स्नेह बना।
उठने को ही वाष्प बना है, गिरने को ही मेह बना।
जलता स्नेह जलावेगा ही, फोले वाष्प फलावेगा ही,
मिट्टी मेह गलावेगा ही सब सहने को देह बना।'

(ख) 'टपक पड़ा कुछ इधर उधर जो अमृत वहाँ से थोड़ा।
दूब-फूल-पत्तों ने पुट में बूँद बूँद कर जोड़ा।'

अस्तु इस स्थल पर हमने देखा है कि गुप्तजी ने कहीं कहीं प्रकृति के द्वारा दृष्टान्त और उपदेश भी दिया है।

यों तो भाषा की सजावट का साधन अलंकार है ही, परन्तु गुप्तजी ने प्रकृति को अप्रस्तुत बना कर उसके द्वारा प्रस्तुत का अलंकरण भी किया है।

प्रकृति का उपयोग अन्योक्ति अलंकार के रूप मे

'जीर्ण तरी, भूरी भार, देख, अरी एरी!
कठिन पंथ, दूर पार, और यह अंधेरी।
सजनी, उलटी बयार, वेग धरे प्रखर धार,
पद पद पर विपद-वार, रजनी घन-घेरी!'

प्रकृतिका उपयोग स्वभावोक्ति अलंकार के रूप में हुआ है। [*स्वभावोक्ति अलंकार वहाँ पर होता है जहाँ किसी वस्तु या दृश्य का बिल्कुल स्वाभाविक वर्णन हो, जिसमे सादगी में ही चमत्कार हो*]

'पुष्कर सोता है निज सर मे,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर मे,
गुंजन सोया कभी भ्रमर मे,—
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो।'

प्रकृति का उपयोग सांगरूपक अलंकार के रूप में भी हुआ है। [*जहाँ उपमेय में उपमान के आरोप के साथ ही उपमेय के इतर अंगों में भी उसी उपमान के इतर अंगों का आरोप कर दिया जाय, वहीं सांगरूपक होता है।*]

'निशि की अंधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में नेरे, न जाने, कौन सज्जा हो रही।'

प्रकृति का उपयोग सन्देह अलंकार के रूप में भी हुआ है। [*'जहाँ किसी वस्तु को देख कर तत्सदृश अन्य वस्तु के संशय होने का चमत्कार पूर्ण वर्णन हो, वहाँ सन्देह 'अलंकार होता है।"*]

'यह प्रभात या रात है घोर तिमिर के साथ।''

यों तो गुप्तजी छायावाद युग के कलाकार नहीं हैं, पर उनकी 'यशोधरा' की रचना छायावाद-युग में हुई है। यही कारण है कि 'यशोधरा' पर छायावाद का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा है। उन्होंने प्रकृति-चित्रण में प्रतीक-योजना, लाक्षणिक वैचित्र्य आदि का भी आश्रय लिया है जो छायावाद की शैलीगत विशेषताएँ है। 'यशोधरा' में प्रकृति प्रतीकात्मक रूप में आई है, यथा

'मेरे फूल, रहो तुम फूले।
तुम्हे झुलाता रहे समीरण झोंटे देकर झूले।'

यहाँ पर 'फूल' शब्द का प्रयोग 'राहुल' के लिए आया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए

'गये घन कै कै वार न घिर आये!
वे निर्झर फिरे न हाय!'

यहाँ पर 'निर्झर' शब्द का प्रयोग 'आँसू' के लिए हुआ है। तथा 'रुदन का हँसना ही गान' वाले गीत मे तो 'यशोधरा की वेदना' के लिए हृत्तन्त्री की तान,' 'कोइल की कूक,' 'बिजली की कोर,' आदि शब्द का प्रयोग हुआ है।

लाक्षणिक वैचित्र्य के निदर्शन के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है

'घुसा तिमिर अलकों में भाग,
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग।'

अब हम एक-एक शब्द को लेकर विश्लेषण करते है। (घुसा=छिप गया, तिमिर=अन्धकार, अलकों=बालों, भाग=दूर हो जा)

यहाँ 'दु:खिनी' शब्द का प्रयोग यशोधरा के लिए हुआ है और 'सुख' राहुल के लिए आया है, परन्तु यहाँ लक्षणा के द्वारा अर्थ खींचा गया है तथा इसमे कार्य-कारण का संबध सन्निहित है। इसके संबंध में हम अन्यत्र विचार करेंगे।

प्रकृति दूतिका के रूप में भी आयी है, पर कम। यशोधरा अपना संदेश पवन एवं नदी के द्वारा भेजती है

'नदी प्रदीप दान ले।
कह देना इतना ही उनसे, जब उनको पहचान ले।'

अस्तु हम देखते हैं कि गुप्त जी ने प्रकृति के जीवित चित्र को ही आँकने का प्रयत्न किया है और उसे मानव भावनाओं के पीछे-पीछे दौड़ाया भी है। प्रकृति मानव सदृश कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी विलाप करती है। उन्होंने कथा-

प्रतिमा की दीवार को प्राकृतिक अलंकारों से विभूषित करने का प्रयत्न किया है, पर रीतिकालीन कवियों की बू नहीं आ पायी है। इनकी 'कविता-कामिनी अलंकारों' में एक सहज सरल आधुनिकता लिए हुए आई है। इस प्रकार उन्होंने बाह्य-प्रकृति और अन्तर्जगत की प्रकृति मे एकरूपता का सुन्दर निर्वाह किया है। अस्तु डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के शब्दों में कह सकते हैं कि *'प्रकृति के साथ ऐसी तादात्म्य भावना हमारे नए युग की विभूति है और है विभूति गुप्तजी के प्रकृति-चित्रण की भी।'*

यशोधरा में वैष्णव-भावना

मैथिलीशरण गुप्त उपयोगितावादी कलाकार हैं और उन्हे यह गुण स्व० आचार्य द्विवेदी जी से गुरु-प्रसाद के रूप मे हस्तगत हुआ है। गुप्तजी ने तो स्पष्ट लिखा है

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥'

भारत भारती]

वस्तुत: कविता आनन्दधात्री के साथ ही साथ 'शिक्षिका' भी है। इस संबंध मे विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। ड्राइडेन का मत है *'कविता का यदि एकमात्र नहीं तो कम से कम प्रमुख ध्येय आनन्दान है; शिक्षादान का ध्येय यदि अंगीकृत भी किया जाय तो केवल गौण रूप से।'* × परन्तु होरेस का कथन है कि *'कविता का उद्देश्य या तो शिक्षा देना या आनन्द प्रदान करना या दोनों का समन्वय करना होता है। अत: स्थूलता और उपयोगिता को आनन्दायकता के साथ समन्वित कर देना चाहिए।'* *

× Delight is the chief, if not the only and of poetry, instruction can be admitted but in the second place Dryden.

*Poets either wish to instruct .or to delight or to combine the two. Join the solid and useful with agreeable Horace

सचमुच यह एक विवादास्पद विषय है कि काव्य में सीख और संदेश रहना चाहिये या नहीं। गुप्तजी ने अपनी कविताओं के द्वारा उपदेश भी दिया है, पर वे कवि-धर्म से च्युत नहीं हो पाये हैं। यही है उनकी कला। '*उनके लिए कला अभिप्रेत ही नहीं, अभिव्यक्ति भी है, लक्ष्य नहीं लक्षण है; साध्य नहीं साधन है। कला कला के लिए न होकर जीवन के अंग-प्रत्यंगों को कलित करने के लिए है।*'

गुप्तजी एक वैष्णव कवि हैं और हिन्दी साहित्य में वैष्णव-भावना का विकास ऐसे समय में हुआ था जिस समय हिन्दुओं का जीवन म्लेच्छों के अत्याचारों से जर्जरित हो रहा था, और भारतीय नभोमंडल में निराशा के भयाकुल बादल आच्छादित हो रहे थे। यों तो वैष्णव-धर्म का प्रभाव वीर-गाथा-काल से ही परिलक्षित होता है। हिन्दी का आदि-कवि चंदबरदाई ने तो 'पृथ्वीराजरासो' के पहले ही छंद में गुरु को नमस्कार कर लक्ष्मी-विष्णु का स्मरण किया है। पर इस युग में वैष्णव धर्म के लिए विशेष गुंजाइश नहीं थी। भक्तिकाल में तो वैष्णव-काव्य का ही सृजन हुआ, पर इसका प्रभाव संत कवियों पर भी पड़ा। कबीर ने 'राम' को अपनाया अवश्य; पर वैष्णवों के सगुण 'राम' को नहीं प्रत्युत उसका राम परब्रह्म का प्रतीक है। लेकिन अन्यान्य वैष्णव कवियों की तरह कबीर ने भी अहिंसा की महत्ता स्वीकार की, प्रेम का गुण-गान गाया। तुलसी, सूर, मीरा, नंददास प्रभृति भक्त-कवियों ने तो वैष्णव साहित्य को अत्यधिक पुष्पित और पल्लवित किया। रीति युग में वे ही राम और कृष्ण काव्य

के आलंबन रहे, पर उनका ईश्वरत्व तिरोहित हो गया और उसके स्थान पर उनका विकृत रूप व्यवहृत होने लगा।

आधुनिक युग में भारतेन्दु ने शुद्ध वैष्णव-काव्य के सृजन करने का प्रयास किया अवश्य, पर रीतियुग से प्रभावित होने के कारण उन्हें इसमें पर्याप्त सफलता नहीं मिली। द्विवेदी-युग में अतीत के मोह ने पुनः वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा साहित्य में की। यथार्थ तो यह है कि भारतेन्दु-युग से ही साहित्यिक-धार्मिक पुनर्जागरण का आरंभ तो हुआ, पर पूर्ण प्रभाव के साथ इसका उत्कर्ष द्विवेदी-युग में ही हो पाया था। आधुनिक युग में वैष्णव-धर्म की रामाश्रयी भक्ति-शाखा के प्रतीक रूप गुप्तजी हैं और कृष्ण भक्ति शाखा के प्रतीक 'हरिऔध'। एक ओर जिस प्रकार रामवत् शाखा के कवि तुलसी ने कृष्ण का भी गुण-गान गाया है, उसी प्रकार गुप्तजी ने भी 'द्वापर' में कृष्ण के जीवन संबंधी घटना को अभिव्यक्ति दी। दूसरी ओर जिस प्रकार कृष्णवत् शाखा के कवि सूर ने राम का गुण-कीर्तन किया है उसी प्रकार 'हरिऔध' ने भी 'वैदेही वनवास' लिखकर राम-काव्य को प्रश्रय दिया।

मध्यकालीन और आधुनिक वैष्णव-धारा में कुछ सैद्धान्तिक अंतर है। मध्यकालीन वैष्णव-काव्य का सृजन एक प्रकार से मलेच्छों के अत्याचारों से आक्रान्त हिन्दु जनता में आशा का प्रचार करने के लिए हुआ था, लेकिन आज हिन्दु और मुसलमान दोनों भारत के अंग हैं। गाँधीजी की वैष्णव-भावना में हिन्दु और मुसलमानों की एकता का स्वर सर्वोपरि है। वे रोज गाते थे

'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाने रे।
पर दु'खे उपकार करे तोथे, मन अभिमान न आने रे ॥'

गुप्तजी की अत्यधिक धर्मप्रवणता संभवतः इस उदार वैष्णव-भावना के आत्मसात में बाधक सिद्ध हुई है। 'हरिऔध, जी ने 'प्रियप्रवास' में राधा और कृष्ण को लोक-मंगल की भावना में तल्लीन कर अपनी उदार वैष्णव-भावना का परिचय दिया है। द्विवेदी-युग में धार्मिक कविता के अन्तर्गत पीड़ितो और दुःखियो के प्रति सहानुभूति, विश्वप्रेम और मानवता की सेवा विशेष उल्लेखनीय है। मनुष्य प्रेम ही मुक्ति का सच्चा रहस्य है। ×

'यशोधरा' में गुप्तजी ने वैष्णव-भावना को समुचित प्रश्रय दिया है, पर इसका निर्वाह वे अंत तक नहीं कर सके और उन्हे वैष्णव-भावना और बुद्ध-भावना का समन्वय करना पड़ा। यशोधरा के जीवन-सूत्र का विच्छेद किसी भी दशा मे बुद्ध से नहीं किया जा सकता था, गुप्तजी चाहते तो भी, नहीं चाहते तो भी, ऐसा ही होता।

ग्रन्थ का आरंभ मंगलाचरण मे होता है जिसमें राम की वन्दना है और है 'भुक्ति-मुक्ति' के स्थान पर केवल भक्ति की याचना। यदि वह रचना बुद्ध-चरित् के रूप मे प्रकाशित हुई होती, तो यह भक्ति-भावना सूचक मंगलाचरण बड़ा बेजोड़ लगता, पर यह पति-भक्ति परायणा गोपा की मर्मव्यथा है।

× जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्व प्रेम के बन्धन ही में, मुझको मिला मुक्ति का द्वार।
ठाकुर गोपाल शरण सिंह।

इसी कारण मुक्ति का तिरस्कार करनेवाली यह भक्ति-भावना भली मालूम होती है। यहीं से गुप्तजी का वैष्णवमय व्यक्तित्व प्रतिभासित होने लगता है। वास्तव में हमारा दुष्कर्म भी धन्य है जिसके कारण भगवान का दर्शन तो होता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि अधर्म ही पूज्यनीय है, क्योंकि इसके कारण उनका अवतार जो हुआ। शायद गुप्तजी ने भावावेश की दशा में 'उदारतावाद' का अतिक्रमण किया है।

जीवन के आरंभिक दर्शों में ही गौतम को एक क्रूर चक्र चलता हुआ दृष्टिगत हुआ और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मनुष्य को बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण कर परिभ्रमण का कष्ट भोगना पड़ता है, पर इस सिद्धान्त में यशोधरा को कोई तथ्य नहीं मिला। वह इस चक्र-भ्रमण में दृष्टि-दोष पाती है

'आली चक्र, कहाँ चलता है?

सुना गया भूतल ही चलता, भानु अचल जलता है।'

अस्तु हम देखते हैं कि गुप्तजी ने यशोधरा में भक्ति के दो आलम्बन माने हैं। वे हैं यशोधरा और सिद्धार्थ। यशोधरा राग का पक्ष ग्रहण करती है तो सिद्धार्थ विराग का। एक ने भक्ति का दामन सम्भाला है तो दूसरे ने ज्ञान का। '*नवीन साहित्य की देन है शारीरिक जीवन के प्रति आसक्ति, यही भक्ति की मूल भित्ति है, जिस पर भक्त जन्म-जन्म तक सशरीर भक्ति करने की याचना अपने भगवान से करता है। इस पक्ष का प्रतिनिधित्व यशोधरा करती है।*' गुप्तजी ने 'सिद्धार्थ' और 'महाभिनि-

क्रमण' प्रकरण में बुद्ध-भावना की रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि खंडन-मंडन के अन्दर वैष्णव-भावना की प्रतिष्ठा हो सके। बुद्ध के दृष्टिकोण में 'मिटे मरण चौरासी' के बाद मुक्ति की प्राप्ती हो सकती है। सिद्धार्थ से कहलाया गया है

'पड़ी रह तू मेरी भव-मुक्ति !
मुक्ति हेतु जाता हूं मै, मुक्ति, मुक्ति, बस मुक्ति !'

और यशोधरा इसके प्रत्युत्तर मे कहती है

'पाना चाहे तो मुझे मुक्ति ही पावे,
मेरा तो सब कुछ वही मुझे जो भावे।
मैं मिलन-शून्य में विरह घटा-सी छाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिये तुझे मैं पाऊँ।'

बन्धन को संबंध में परिणत कर देने से वह बन्धन नहीं रह जाता, बल्कि बन्धन फिर और भी प्रिय हो जाता है।

'सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बंध्य हूँ, आप खुलू मैं, तू न बीच में बोल।
सिद्धि का साधन ही मोल।'

झंकार]

वैष्णव-काव्य मे संसार से विरक्त तथा विमुख होकर निर्वाण की प्राप्ति की अपेक्षा नहीं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी इसको स्वीकार किया है और लिखा है

वैराग्य-साधने मुक्ति, से आमार नय
असंख्य - बंधन माझे महानन्दमय
लभिब मुक्तिर स्वाद।'× × × × ×
इन्द्रियेर द्वार

८८. करि योगासन, से नेह आमार।
जे किछु आनन्द आछे दृश्य गन्धे गाने।
तोमार आनन्द र'बे माझ खाने।
मोह मोर रूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिबे फलिया।

अर्थात् [वैराग्य-साधन से जो मुक्ति होती है वह मुझे नहीं चाहिए। मैं तो असंख्य (सांसरिक) बन्धनो के बीच में पड़ा हुआ महानन्दमय (सच्चिदानन्दमय) मुक्ति का स्वाद पाऊँगा।... योगासन करने से यदि इंद्रियों के द्वार रुद्ध होते है तो मुझे योगासन नहीं। (संसार के) दृश्य, गन्ध, गान में जो कुछ भी आनन्द हैं, उनके बीच मुझे तुम्हारा ही आनन्द उपलब्ध होगा। तब मेरा मोह ही मुक्ति रूप से खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्तिरूप में सुलभ हो जायगा।] वैराग्य की साधना से जो निर्वाण मिलता है, वह कवि को इष्ट नहीं। वह तो असंख्य बन्धनों के बीच महानन्दमय मुक्ति का रसास्वादन करना चाहता है। पंत ने भी इसी को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।'

वैष्णव भावना में माया को शक्ति माना गया है और उसी के माध्यम से ब्रह्म की प्राप्ति बतलायी गई है, लेकिन शंकर ने इसी माया को ब्रह्म की प्राप्ति में बाधक बतलाया है। गुप्तजी का राहुल कहता है

'ब्रह्म भी मिलेगा कल, आज मिली माया है।'

बुद्ध-धर्म 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्यं' में विश्वास रखता है और बौध धर्मावलम्बियों की दृष्टि में संसार की प्रत्येक वस्तु

में दुःख है। पर वैष्णवमत आशावादी है और यह स्वीकार करता है कि दुःख के पीछे सुख सन्निहित है। सिद्धार्थ ने कहा है

'मैं सूँघ चुका वे फुल्ल फूल, सड़ने को हैं सब झटित झूल।
चख देख चुका हूँ मैं, समूल—सड़ने को हैं वे अखिल आम।'

पर यशोधरा आशावादिनी है और उसका मत यह है कि फल का अन्त व्यक्तिगत रूप से होता है पर समष्टि रूप से तो वह शाश्वत है, नित्य है और है अनन्त। वह जोरदार शब्दों में कहती है

'माना ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं,
जाना, ये दाड़िम आम सभी सड़ते हैं?
पर क्या यों ही कभी टूट पड़ते हैं?
मैं विफल तभी, जब बीज-रहित हो जाऊँ।'

महादेवी वर्मा ने भी कुछ वैसा ही कहा है

'अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम-विकास।'

यशोधरा को विश्वास है कि वर्त्तमान दुःख के पीछे आनन्दमय भविष्य झाँक रहा है। बुद्ध ने जो कहा है कि मृत्यु के बाद व्यक्तित्व का लोप हो जाता है, उसे यशोधरा नहीं मानती। अस्तु, इसकी अभिव्यक्ति *'आकर पूछेंगे जरा-मरण यदि हम से'* वाले पद में हुई है।

वैष्णवमत में कर्मवाद और नियतिवाद को प्रश्रय दिया गया है परन्तु नियति का तात्पर्य्य अकर्मण्यता नहीं है। यशोधरा अपने कर्म और नियति दोनों पर विश्वास करती है

जिसकी अभिव्यक्ति 'निशि की अँधेरी जवनिके' वाले पद में हुई है। बौद्धों की तरह सन्यास मार्ग को भी गुप्तजी ने अच्छा नहीं कहा है। सिद्धि तो गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए भी मिल सकती है। राहुल कहता है

'और रहो चाहे जहाँ, सिद्धि तो है धुन की।
तेरी गोद में ही अम्ब मैंने सब पाया है,
ब्रह्म भी मिलेगा कल, आज मिली माया है।'
पृ० स० १०४]

वैष्णव भावना का ही यह प्रभाव है कि यशोधरा को अनुरागिनी होकर भी मानिनी बनना पड़ा। वैष्णव-काव्य में मान को अत्यधिक महत्व दिया गया है क्योंकि इस धर्म-विशेष का झुकाव प्रेम की ओर अधिक रहता है और प्रेम की महत्ता मान की शून्यता में नहीं प्रतिष्ठित की जा सकती। इस संबंध (मुक्ति और भक्ति) में राहुल द्वारा उपस्थित की गयी जिज्ञासा का चित्र स्मरणीय है। राहुल ही, गोपा के बीच की भक्ति और सिद्धार्थ की विरक्ति के मध्य संयोजक कड़ी है। अन्त मे बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने से नारी को प्रव्रज्या लेने की अनुमति दी थी, परन्तु फिर भी उनके हृदय में नारी के प्रति घृणा का ही भाव परिव्याप्त था। यशोधरा के मान के सामने बुद्ध ने अपने भाल को झुकने दिया और कहा-

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी।'

अस्तु, गुप्तजी ने 'शुल्क' में ठीक ही लिखा है '*सुगत का तगीतो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है,* परन्तु

गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ा है कि 'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको' अथवा तुम्हारे शब्दों में मेरी वैष्णव-भावना ने तुलसी-दल देकर नैवेद्य यह बुद्धदेव के सम्मुख रखा है।' सुतरां, इस आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्तजी की वैष्णव-भावना बड़ी उदात्त है, इतनी अधिक उदात्त है कि बुद्ध को राम का वंशज बतलाया है

'हे राम, तुम्हारा वंश जात, सिद्धार्थ, तुम्हारी भाँति, तात।
घर छोड़ चला यह आज रात, आशीष उसे दो, लो प्रणाम।'

'महाभिनिष्क्रमण' प्रकरण में कहीं-कहीं राम के क्रिया-कलापों का भी आभास मिलता है यथा

'मैं त्रिविध-दु:ख-विनिवृत्ति-हेतु,
बाँधूँ अपना पुरुषार्थ-सेतु;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम।'

अन्त में यशोधरा और राहुल से प्रव्रज्या ग्रहण करा कर गुप्तजी ने वैष्णव और बुद्ध दोनों मतों का सुन्दर समन्वय कर रखा है। यह आवश्यक भी था, अन्यथा एक उपेक्षिता को तो महत्व दिया जाता, लेकिन दूसरी ओर एक प्रख्यात व्यक्ति की महत्ता गौण हो जाती।

रससिद्धान्त और यशोधरा

भरतमुनि ने अपने पूर्वाचार्य द्रुहिण के प्रमाण पर आठ रसों का उल्लेख किया है

श्रृंगार–हास्य–करुण–रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साऽद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्य रसाः स्मृताः ॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ । श्लोक १५]

अर्थात् वे हैं श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत। और इन रसों के स्थायी भाव क्रमशः निम्नलिखित हैं रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (घृणा), और विस्मय। नवें शम के विषय में दशरूप में 'शममपि केचित्याहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' लिखा है। इन रसों के अतिरिक्त प्रेय, वात्सल्य, लौल्य, कार्पण्य और भक्ति को भी भरत के उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने रस माना है। कुछ शास्त्रकारों ने श्रृंगार का तीन भेद माना है अयोग, विप्रयोग और संयोग। पर पीछे के शास्त्रकारों ने अयोग और विप्रयोग को 'विप्रलंभ श्रृंगार' की संज्ञा प्रदान की है। अस्तु श्रृंगार के दो ही पक्ष हैं संयोग और विप्रलंभ। मोटे तौर पर श्रृंगार का अर्थ है दाम्पत्य-प्रेम, आनन्द और सम्भोग।

'यशोधरा' एक श्रृंगार-रस-प्रधान काव्य है। क्यों और कैसे? इसके संबंध में आगे विचार करते हैं। यहाँ पर यह

बतला दिया जाता है कि इस पुस्तक में श्रृंगार रस के दोनों पक्षों का सम्यक् परिपाक नहीं हुआ है। इसमें विप्रलंभ श्रृंगार का ही अंकन हुआ है, न कि संयोग श्रृंगार का। यशोधरा का दर्शन उस समय होता है जब वह चोरी-चोरी चले गए पति को उपालम्भ देती हुई उपस्थित होती है। गोपा की इस अवस्था को एकाएक देखकर हमें किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाना पड़ता हैं। यह सत्य है कि गोपा को इसकी आशंका पहले से ही रही थी, पर हम इससे अनभिज्ञ हैं। गुप्तजी का फर्ज था कि जिस तरह उन्होंने 'साकेत' में वन-गमन के पूर्व लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग सुख का सुन्दर अंकन किया है, उसी तरह सिद्धार्थ और यशोधरा के दाम्पत्य-जीवन की एक सुन्दर तस्वीर खींच डालते पर ऐसा करना गुप्तजी ने उचित नहीं समझा क्योंकि वे दोनों (सिद्धार्थ और यशोधरा) कवि के लिए पूज्यनीय हैं, माता-पिता के सदृश्य हैं। नैतिकता की दृष्टि से यह भले ही ठीक हो, पर काव्य-कला की दृष्टि से निकृष्ट है।

यह सत्य है कि शुद्धोधन ने अपने राजकुमार के लिए विलास का साधन सजाया, पर वे तो इसके लिए अवतीर्ण हुए नहीं थे। वाह्य-विषय सुख ने उनके हृदय में वीतराग के अंकुर पनपाए और यही विषय-विरक्ति का मनोवैज्ञानिक कारण है, जिसका चित्रण काव्य में नहीं हुआ है। 'यशोधरा' में इस विलास-वैभव के अंकन का अभाव बहुत ही खटकता है जो विप्रलंभ-श्रृंगार के रस-परिपाक में बाधक प्रमाणित होता है।

हाँ, अब प्रश्न उठता है कि 'यशोधरा' में किस रस का परिपाक हुआ है ? इस संबंध में मतभेद है। कुछ ने शान्त रस, कुछ ने करुण-रस और कुछ ने विप्रलंभ शृंगार रस प्रधान काव्य माना है। इस संबंध में हम एक-एक कर विचार करते हैं।

शान्त रस:

क्या 'यशोधरा' शान्त-रस-प्रधान काव्य है ? कदापि नहीं, क्योंकि *'संसार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्त्वज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस उत्पन्न होता है।'* और इसका स्थायी भाव है निर्वेद, आलंबन है लौकिक सुख की क्षणभंगुरता या परमात्मा तत्त्व का ज्ञान। ग्रन्थ के आरंभ में सिद्धार्थ के मानसिक-द्वन्द्व और 'महाभिनिष्क्रमण' के प्रकरण में शान्त रस का संतुलन हुआ है, पर उसी समय के लिए। आगे जाकर हम देखते हैं कि जैसे ही गौतम ने वन को अपना आवास बनाया है वैसे ही निर्वेद का अंत हो जाता है यशोधरा तो मुक्ति चाहती ही नहीं, जिसका संकेत स्थल-स्थल पर मिलता है। गोपा तो कहती है कि 'मेरा भी प्रभु पति है'। यह तो कटु सत्य है कि जिसके हृदय में वैराग्य की भावना है, वह क्यों अपने पुत्र या पति से अपना संबंध रखेगी ? यह स्पष्ट है कि यशोधरा के विलाप में निर्वेद नहीं है। अतः यह शान्त-रस प्रधान काव्य नहीं है।

करुण-रस:

अब दूसरा पक्ष है, जिसके अनुसार यशोधरा एक करुण-रस प्रधान काव्य है। करुण रस वहीं होता है जहाँ 'इष्ट वस्तु

की हानि, अनिष्ट का लाभ, प्रेम-पात्र का चिर वियोग, अर्थ-हानि आदि से जहाँ शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि होती है।' इसका स्थायी भाव शोक है। बन्धु-विनाश, प्रिय-वियोग, पराभव आदि इसके आलंबन हैं। 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार

"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोत वर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।

तृतीय परिच्छेदः श्लोक २२२]

अर्थात् 'इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण-रस व्यंजित होता है तथा इसके देवता यमराज हैं।'

यशोधरा के जीवन-धन उसकी आँखों से दूर हैं, पर उसके हृदय में कभी भी शंका नहीं होती है कि उसके जीवन-धन का कुछ अनिष्ट होगा। उसे पूर्ण विश्वास है कि उसके जीवन-धन आज नहीं, कल नहीं, तो एक दिन वापस आयेंगे अवश्य, जिसका संकेत पुस्तक में स्थान-स्थान पर हुआ है। अस्तु, यशोधरा के लिए तो जीवन-धन के अनिष्ट की कल्पना भी असह्य है। जब तक उसके इष्ट के लौट आने की भावना व्याप्त है तब तक करुण रस का उद्रेक हो ही नहीं सकता। करुण-रस की निष्पत्ति के निदर्शन के लिए भवभूति का 'उत्तरराम-चरित्' काफी है। इसमें जो श्री रामचन्द्रजी का सीता विषयक विलाप है, वह करुण-रस के अन्तर्गत आता है क्योंकि उन्हें फिर से मिलने की कोई आशा नहीं।

इसके साथ-साथ हमें यह ज्ञात है कि करुण-रस के देवता यमराज हैं। यशोधरा के लिए 'मरण सुन्दर बन' कर आया भी, पर वह इससे दूर ही रही, (जिसका संकेत 'मरण सुन्दर

बन आया री, वाले गीत में हुआ है) क्योंकि उसे तो 'मरण' वरण करने का कोई अधिकार ही नहीं है यथा

'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार,
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार।'

इसीलिए तो वह इसी में आनन्द का अनुभव करती है कि

'जिये जल-जल कर काया री!'

सुतरां, हम देखते हैं कि इसमें करुण-रस के देवता का भी कोई स्थान नहीं।

कुछ लोग इसे करुण काव्य प्रमाणित करने के लिये यह कहते हैं कि गौतम लौटे जरूर, पर एक उपदेशक के रूप में। उसके प्रियतम तो जंगल में नष्ट हो गए और वह बन गए भगवान। अस्तु, गोपा को अपने प्रियतम से भेंट नहीं हुई, बल्कि भेंट हुई भगवान बुद्ध से। अब वह उनकी शरण में गई एक शिष्या के रूप में। इसके उपरान्त हम उसी सीमा पर पहुंचते हैं कि नारी यशोधरा के प्रियतम जंगल में नष्ट हो गए और वस्तुतः नारी यशोधरा को अपने 'प्रियतम और पति' के निधन पर शोक है। इस दृष्टि से नारी करुणा की प्रतिमा है और यशोधरा एक करुण-काव्य है। इसके उत्तर मे हमें कहना यह है कि गौतम भले ही मन से बदल गए हों, पर उनका तन और रूप तो वही है। हमें तो गौतम को देखकर 'रस' का नामकरण नहीं करना चाहिए, चाहिये यशोधरा के जीवन की कहानी को देखकर। 'यशोधरा' के लिए तो गौतम उसके प्राणेश्वर ही हैं। इसकी पुष्टि के लिए यह कहा जा सकता

है, जिस तरह एक बेटा गवर्नर हो जाता है और वह दुनियाँ-वालों की नजर में गवर्नर है, पर एक पिता के लिए उसका पुत्र ही है। उसी प्रकार गौतम दुनियाँ के लिए भगवान हैं, पर यशोधरा के लिए तो वही जीवन-धन है। इस प्रकार यह करुण रस प्रधान काव्य नहीं हो सकता।

विप्रलंभ शृंगारः

विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में लिखा है कि

'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टयुपैति विप्रलंभोऽ सौ।'

अर्थात् प्रेम नायक अथवा नायिका के पक्ष में विफल हो जाता है, तो वह विप्रलंभ या वियोग शृंगार होता है। यह चार प्रकार का है।

(क) पूर्वराग (ख) मान (ग) प्रवास और (घ) करुणात्मक।

'सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की, समागम से पूर्व भाव-दशा का नाम पूर्वराग है।' इसमें पूर्वानुराग संबंधी घटना का अभाव है, परन्तु गुण-श्रवण से उत्पन्न पूर्वराग का वर्णन है। पूर्वानुराग का दर्शन निम्न-लिखित पंक्तियों में कीजिये -

'प्रियतम! तुम श्रुति पथ से आये।
तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर कपाट लगाये॥'

यहाँ पर जो पूर्वराग का आभास है, वह गुण-श्रवण के कारण। ठीक इसी प्रकार का गुण-श्रवण से उत्पन्न पूर्वराग का आभास जायसी के 'पद्मावत' में मिलता है। पूर्वराग कभी स्वप्न-दर्शन से, कभी चित्र-दर्शन से, कभी प्रत्यक्ष-दर्शन से होता है।

'मान दो प्रकार का होता है एक प्रणय-मान और दूसरा ईर्ष्या-मान। प्रेम से वशीभूत होने को प्रणय कहते हैं। इसके भग होने से जो कलह होता है उसे प्रणय-मान कहते हैं। और यह सुनने, देखने अथवा अनुमान करने से कि नायक किसी दूसरी स्त्री से अनुरक्त है, ईर्ष्या उत्पन्न होती है तब उसे ईर्ष्या-मान कहते हैं।' (साहित्यालोचन)। 'यशोधरा' में प्रणय-मान और ईर्ष्या-मान दोनों है। प्रणय-मान इसलिए है कि सिद्धार्थ चोरी-चोरी चले गए और यह जो मान है वह व्यक्तिगत अपमान से सम्बन्धित है। वह उपालंभ देती है, परन्तु इसमें भी उसका प्रेम ही ध्वनित होता है। यशोधरा का यह मान आदि से अंत तक रहता है। यह मान उस सीमा पर पहुंचा हुआ है कि जब सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध होकर लौटे हैं तब भी 'गोपा वहीं है, छोड़कर उसको गए थे वे जहाँ।' बेबस होकर भगवान को ही मानिनी गोपा के आँगन में आना पड़ा और वे मान के गले में विजय की माला पहनाते हैं। अब वे प्रणय की याचना करते हैं

'मानिनि, मान तजो, लो रही तुम्हारी बान।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर, यह तव तत्र-भवान्।'

इस प्रणय-मान में 'आत्म-सम्मान' की ध्वनि है।

और अब हमें देखना यह है कि इसमें ईर्ष्या-मान है या नहीं। ईर्ष्या-मान तब होता है जब नायक किसी पर स्त्री में अनुरक्त हो। यह तो सत्य है कि नारी कभी भी पुरुष को अन्य वस्तु के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित होते नहीं देखना चाहती है, उसी प्रकार यशोधरा कहती है

'चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।'

अर्थात् मुक्ति सिद्धार्थ की पटरानी बनी रहे, पर यशोधरा उनकी चेरी ही रहना पसन्द करती है। यहाँ पर 'यशोधरा की ईर्ष्या अत्यन्त सात्विक भाव से अभिव्यक्त हुई है।'

तीसरा भेद प्रवास है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है

'प्रवासो भिन्न देशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात्।'

अर्थात् किसी कार्यवश, भ्रमवश या शापवश यदि नायक या नायिका को देशान्तर में जीवन-यापना करना पड़े, तो वैसी दशा में 'प्रवास विप्रलंभ' होता है। कार्यवश प्रवास तीन प्रकार का हो सकता है भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान।

गौतम का प्रवास न शापवश है, न भ्रमवश। जीवन के पहले प्रभात से ही गौतम के हृदय में प्रवासमय जीवन-यापन करने की इच्छा रही क्योंकि उन्होंने संसार के स्वस्थ, शोभन और सजीव वस्तु में असार का निरूपण किया। उन्होंने विश्व के राग-रंग, आमोद-प्रमोद में मानव-जाति की पीड़ा का अवलोकन किया। गौतम का मन वैरागी हो गया है। इस तरह उनके मन में विश्व की क्षणभंगुरता खलती है और इसी कार्यवश उन्हें निर्वाण की खोज में घर का त्याग करना पड़ता है। गौतम ने नारी को सिद्धिमार्ग की बाधा समझ कर सोते छोड़ दिया। वे चोरी-चोरी चले गए, इसी की कचट, इसी की पीड़ा है। यशोधरा को इस बात की आशंका बहुत पहले से ही हो रही थी पर उनके प्रयाण की स्पष्ट सूचना कभी पहले नहीं मिली। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के उपरांत ही पति-संगिनी पति-वियुक्ता हो जाती है। अतः यह

प्रवास भूतकालीन कार्यवश प्रवास के अन्तर्गत आता है। पुस्तक के आदि स अन्त तक इसी प्रवास के हेतु यशोधरा के हृदय म विरह की ऊर्मियाँ लहराती नजर आती हैं। यशोधरा के हृदय मे धैर्य और भ्रम का द्वन्द्व-युद्ध है। यशोधरा को अपने आप पर ग्लानि होती है। पर ऐसी अवस्था में भी वह आशा का आंचल नहीं छोड़ती, यह स्वाभाविक है। मनुष्य की सभी आशाओं पर पानी फिर भी जाय, तोभी वह आशा की डोर को त्याग नही सकता है, यह कटु सत्य है कि आशा की किश्ती ही मानव जीवन का आधार है।

यशोधरा का वियोग चरम-सीमा (Climax) पर पहुँच जाता है और उसके वियोग के साथ हम भी सहानुभूति दिखाते हैं। यहां पर हम करुणात्मक विप्रलंभ शृंगार का निरूपण करते हैं। इस प्रसंग में यह बतला देना अप्रासंगिक नहीं है कि करुण रस और करुणात्मक वियोग में क्या अंतर है? करुण रस उस समय होता है जब दो प्रेमियों मे से एक की मृत्यु हो जाती है और करुणात्मक वियोग तब होता है जब प्रेमी या प्रेमिका प्रेम विह्वल होकर तड़पने लगें। करुण रस में मिलने की आशा नहीं रहती है, पर करुणात्मक वियोग में आशा रहती है और इसके साथ-साथ इसमें 'रति-भाव' भी लगा रहता है जो करुण रस में नहीं रहता। करुणात्मक वियोग में, शृंगार का भेद होने के कारण, इसके स्थायी भाव रति का रहना अनिवार्य है। यशोधरा का विरह भी इसी प्रकार का है। यशोधरा तो मरती नहीं है क्योंकि उसके प्रियतम तो उसके मन-मंदिर में हैं। अन्त मे सिद्धार्थ भगवान बुद्ध होकर

लौटते हैं और दोनों का मिलन होता है। अस्तु, इस दृष्टि से यशोधरा एक 'प्रवास-जनित करुणात्मक विप्रलंभ शृंगार-रस' प्रधान काव्य है।

पर इसके साथ-साथ निर्विवाद रूप से मानना ही होगा कि वात्सल्य रस 'प्रवास जनित करुणात्मक विप्रलंभ शृंगार' में अन्तःसलिला के रूप में प्रवाहित हो रही है। इससे स्पष्ट होता है कि इसमें विप्रलंभ शृंगार और वात्सल्य रस की प्रधानता है लेकिन वात्सल्य की अपेक्षा विप्रलंभ शृंगार-रस और भी प्रधान है।

महाभिनिष्क्रमण की प्रेरक भावनाएँ

संसार एक कहानी है। इसमें सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, हर्ष-विषाद का एक इतिहास है और यह इतिहास समय के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। मानव-प्राणी के द्वन्द्वमय जीवन के मध्य एक चक्र है, जो सर्वदा घूमता है और साथ-साथ पीसता भी है। सिद्धार्थ ने ज्योंही अपनी भोली आँखों को विश्व-रंगमंच पर घूमने का अवकाश दिया, त्योंही उन्हें संसार में माया का क्रूर चक्र चलता हुआ दीख पड़ा। उनकी अन्तरात्मा संतप्त होकर रो पड़ी और बाल-सुलभ कोमल हृदय रह-रह कर बोल उठा

> 'घूम रहा है कैसा चक्र !
> वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र !'

बालक सिद्धार्थ ने इस संसार को परिवर्तनशील एवं मायावी पाया और उन्होंने देखा कि इस परिवर्तन का क्रम निरंतर चला करता है। संसार की असारता को देखकर उर्दू के मशहूर शायर जौक ने भी ठीक ही लिखा है

> 'ऐ जौक अगर है होश तो दुनियाँ से दूर भाग।
> इस मैकदे में काम नहीं होशियार का।'

उनके हृदय-सरोवर में जब यह भाव-ऊर्मियाँ लहरायीं कि मानव-प्राणी को बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण कर

परिभ्रमण का कष्ट भोगना पड़ता है तब उन्होंने इसी चक्र से परित्राण पाने के लिए रास्ता खोजना आरम्भ किया। अस्तु, जीवन के पहले प्रभात से ही गौतम में वीतराग के अंकुर उपजने लगे और उन्होंने विश्व की स्वस्थ, शोभन एवं सजीव वस्तुओं में ध्वंस का अट्टहास पाया। इस नश्वरता ने सिद्धार्थ के हृदय-प्रदेश को स्पन्दित कर दिया तथा वे कह उठे

'देखी मैंने आज जरा!
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा?'

सुतरां, गौतम की दृष्टि में यदि कोई वस्तु अचल एवं सत्य है तो वह है मृत्यु, क्योंकि उनकी दृष्टि में भविष्य का आकाश धूमिल है। संसार की किसी भी वस्तु में स्थिरता नहीं, अमरता नहीं, यही कारण है कि मानव-जीवन एक कपोल कल्पित पात्र है। इस शरीर का कोई भी अस्तित्व नहीं क्योंकि

'सौ सौ रोग खड़े हों सम्मुख, पशु ज्यों बांध परा,'

इतना ही नहीं, उनका हृदय प्रश्न कर उठा-

'रिक्त मात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा-भरा?'

लेकिन किशोर-हृदय जीवन की नश्वरता का अवलोकन करना एक अभिशाप मानता है और वह चाहता है इससे छुटकारा पाना। वह एक सच्चे साधक की भाँति इन समस्याओं का समाधान करने में लग जाता है और कर्मनिष्ठ व्यक्ति की तरह साधना की चरम सीमा पर पहुँचना उसका अभीष्ट है। वह अपने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा संसार

को क्षणभंगुरता एवं नश्वरता को सिद्ध करता है। अतएव इस संसार में

'प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग;
संयोग मात्र भावी वियोग !'

या

'भीतर भीषण कंकाल मात्र।
बाहर बाहर है टीम-टाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !'

गौतम जीवन की क्षणभंगुरता को देख, इसी जीवन में पड़े रहना अच्छा नहीं समझते, क्योंकि जीवन का यह उद्देश्य नहीं कि विलासमयी सामग्रियों का उपयोग कर मर जायँ। बल्कि मानव का उद्देश्य यह हो।

'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।'

यह कटु सत्य है। यही कारण है उसकी अन्तरात्मा कहती है

'अमृतपुत्र, उठ, कुछ उपाय कर, चल, चुप हारे न बैठ हाय !
खोज रहा है क्या सहाय तू? मेट आप ही अन्तराय ?'

गौतम का कथन है कि जिस वर्तमान के अभिमान में हम अपना भूला राग अलाप रहे हैं, वह वर्तमान विगत बनता जाता है और भविष्य के गर्भ में सब अनिश्चित है। आज का खिला हुआ फूल कल धूल बन जाता है, और उसके जीवन का अंत अवश्यम्भावी है। इस विश्व की प्रत्येक वस्तु में मरण का एक इतिहास है। गौतम ने तो संसार को असार पाया ही, पर विवश जीवों को दुःखों की असह्य अग्नि में

जलते देखकर उनका हृदय कराह पड़ता है और वे पीड़ित-मानवता को कष्टों से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे ही उनके हृदय में यह भावना उठी वैसे ही उन्होंने दूसरी ओर कर्म-कांड क्रूरता का तांडव नृत्य देखा। उन्होंने इस कर्म-कांड के पीछे आडम्बर पाया और जीवन में उसका कोई उपयोग न देखा। उनकी दृष्टि में कर्म-काण्ड के पीछे सर्वनाश की ही ध्वनि है। यज्ञों में निरीह पशुओं की बलि दी जाती है, इसको देखकर गौतम का प्रश्न है क्या इस बलि में कोई तर्क या सिद्धान्त है? कदापि नहीं। यह आडम्बर है, बाहरी वेश-भूषा है, एक ढोंग है, इसे मानव-धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ये सब कार्य केवल स्वार्थ प्रधान इंद्रियों की तृप्ति के साधन हैं। उन्होंने तो इसे 'लोलुप-रसना का लोल-लास' कहा है और इस कर्म-कांड की तथ्यहीनता दरसाने के लिए कहा है

'तुम देखो ऋग् यजु और साम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम?'

उन्होंने सर्वव्याप्त सृष्टि को परिवर्तनशील माना है। मानव-समुदाय पर क्षणभंगुर जग का एक 'स्वप्न-जाल' बिछा हुआ है तथा इस स्वप्न जाल से मानव को सौ कदम दूर रहना है क्योंकि संसार का यश, वैभव, कीर्ति आदि वस्तुओं का विनाश अवश्यंभावी है। यह राज-पाट, धन-दौलत, राजा-प्रजा सभी परिवर्तनशील हैं और समय के चक्र में इनका विनाश अनिवार्य है। आज जवानी भादों की उमड़ती धारा है तो

फल बुढ़ापे का गंदला पानी, यह टिकने-टिकाने की चीज नहीं, ठीक ही किसी शायर ने फरमाया है

'जवानी की दुआ लड़कों को नाहक लोग देते हैं।
यही लड़के मिटाते हैं जवानी को जवां होकर ।।'

उर्दू शायर की इन पंक्तियों पर गौर फरमाइये, दर्शन भरा पड़ा है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि विश्व की रमणीय से रमणीय वस्तुओं में भी विनाश का अट्टहास है और यह कटु सत्य है कि मानव का जन्म जिस रोज होता है उसी रोज उसकी मृत्यु का सूचीपत्र भी बन जाता है। मानव-समाज सांसारिक उपादानों से लाभ उठाना चाहता है, आनन्द लूटना चाहता है, सुख का उपयोग करना चाहता है, पर वह उतना ही चक्कर के बाहर हो जाता है। इसी उधेड़-बुन में जीवन का अंत है। इसे देखते हुए उनकी अन्तरात्मा में प्रश्न का ज्वार उठा

'कैसे परित्राण हम पावें? किन देवों की रोवें-गावें?'

जहाँ एक ओर यह प्रश्न उठा तो दूसरी ओर देखते यह हैं कि देवतागण भी इसी रोग के रोगी हैं, तो गौतम कहते हैं

'पहले अपना कुशल मनावें वे सारे सुर-शक्र !'

अतएव वे देवताओं की अर्चना न कर अपने पुरुषत्व की गठरी को संभालते हैं और वे मानव की पीड़ाओं को दूर करने के लिए वचनबद्ध होते है तथा कहते हैं

'बाहर से क्या जोडूँ-जाडूँ, मैं अपना ही पल्ला झाडूँ।
तब है, जब वे दाँत उखाडूँ, रह भव-सागर-नक्र।'

और गौतम त्रिविध-दुःख की विनिवृत्ति-हेतु अपना पुरुषार्थ-सेतु बाँध कर चलने को तैयार होते हैं, उस समय उन्हें शंका होती है

'क्या भाग रहा हूं भार देख ?'

पर इसका निराकरण स्वयं करते हैं

'तू मेरी ओर निहार देख, अटकेगा मेरा कौन काम ?'
ओ क्षणभंगुर भव राम-राम !'

और गौतम को ऐसा विश्वास होता है कि विश्व की पीड़ित मानवता उनकी बाट जोह रही है क्योंकि

'दब गई थी ऐश से रूहामियत इन्सान की।
पड़ चुकी थी सर्द-सी चिनगारियाँ ईमान की।'

तथा गौतम एक मानव होने की हैसियत से बोल उठे

'पथ देख रहा हूं आर्त्त लोक,
मेटूं मै उसका दुःख, शोक,
बस लक्ष्य यही मेरा ललाम।'

अस्तु, सिद्धार्थ (कार्य-सिद्धि करने वाला) का नाम सार्थक तभी है जब मानव-समाज यन्त्रनाओं से दूर हो जाय।

अब गौतम संतप्त-विश्व से प्रयाण करने को तैयार है और उनकी आन्तरिक आकाँक्षा है कि उनकी आँखें भेद-भाव भूलकर संसार भर को एक दृष्टि से देखें तथा विश्व का प्रत्येक व्यक्ति रस-सागर का आनन्द ग्रहण करे। यहाँ से पाप और अन्याय का अंत हो जाय और नीति के चारो भेद साम, दाम, दण्ड और भेद के प्रयोग करने का कुसमय ही न प्राप्त हो।

कपिलवस्तु के गौतम जैसे ही प्रयाण करना चाहते हैं वैसे ही उनके मानस-उदधि में माता-पिता की स्नेहमयी साकार प्रतिमा आ खड़ी होती है। मन ठिठक जाता है और क्षमा की भीख माँगते हैं, पर एक अज्ञात सत्ता ने आकर हृदय का मंथन कर डाला और कह उठा 'ऐसे शुभ अवसर पर क्षमाँ की भीख कैसी!' इतना ही 'टानिक' का कार्य न्यस्त कर गया, उनकी हृदय-कलिका लहलहा उठी। इसके अनन्तर नंद का स्मरण हो आया और 'ठौर-ठाम' समझ कर आगे बढ़ अपनी प्राणेश्वरी गोपा पर दृष्टि टिका दी। अवकाश चाहिए था कि उनकी भाव-धारा पंगु हो गई, पर एक ही क्षण में वह चेतन भी हो गई और गोपा की गोद भरा देख कर कह उठे

'अयि गोपे, तेरी गोद पूर्ण,
तू हास-विलास विनोद पूर्ण!
अब, गौतम भी हो मोद पूर्ण, क्या अपना विधि है बाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम!'

और भावुक किशोर गौतम की इच्छा है कि गोपा को प्यार की नींद से जगा कर एकबार भर नजर देख लें, पर उनका हृदय अपने आप से प्रश्न करता उठता है- 'क्या तुम्हे जगाऊँ, एक बार?' एकाएक कामिनी-नारी का सर्पिणी रूप आकर उनकी आँखों के सामने नाच उठता है और कह बैठते हैं

'सो अभी स्वप्न ही तू निहार, हे शुभे, श्वेत के साथ श्याम!'

माँ की गोद में अचेत सोया राहुल को देखकर पिता गौतम का हृदय मचल उठा, पर राहुल को माँ का वात्सल्य प्राप्त था;

इसी कारण वे चिन्ता का भार वहन नहीं करते हैं। और आर्शीवचन के दो-चार छंद अपने आप फूट पड़े

'राहुल, मेरे ऋण-मोद माप !
लाऊँ मैं जब तक अमृत आप,
माँ ही तेरी माँ और बाप ! दुल, मातृ-हृदय के मृदुल दाम !'

गौतम सभी शंकाओं का समाधान कर प्रयाण करते हैं। इसी बीच प्रकृति अपना उग्र रूप दिखा कर डराना चाहती है पर गौतम भय और डर त्याग 'मृत्यु-विजय-अभियान' पर चढ़ कर साधन की खोज के लिए प्रस्तुत होते है । लेकिन निर्वाण की प्राप्ति करने वाला साधक भयभीत नहीं हुआ और व्यंग्य कर उठा

'भय, कह, किस पर यह भूरि-भाम।'

अस्तु, गौतम जय-यात्रा के लिए अपने गृह का त्याग करते हैं और इसका 'निर्वाण-हेतु मेरा प्रयाण, कहते है। इसके अतिरिक्त अपने पूर्वजों का आशीष माँगते है

'हे राम, तुम्हारा वंश जात,
सिद्धार्थ तुम्हारी भाँति तात,
घर छोड़ चला यह आज रात, आशीष उसे दो, लो प्रणाम !'

और इन्हीं भावनाओं ने उन्हें प्रयाण करने को बाध्य किया तथा इस प्रयाण को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं !

कथावस्तु में राहुल का स्थान

'यशोधरा' की कथावस्तु में राहुल का महत्व कम नहीं। इसकी कथावस्तु के निर्माण में कवि ने संयम और साधना से काम लिया है। राहुल का महत्व इसीलिए अधिक है कि उसके कारण प्रस्तुत पुस्तक की कला और आदर्श की रक्षा हो सकी। इसमें जिस आदर्श की प्रतिष्ठापना हुई है, वह बापू-युग का आदर्श है। यों तो 'यशोधरा' की रचना के पीछे एक इतिहास है और कवि ने इसकी रचना का श्रेय 'साकेत' की 'उर्मिला' को माना है। गुप्तजी ने 'साकेत' की रचना कर उर्मिला-विषयक उपेक्षा को तो दूर कर दिया और उन्हे उसके रुदन-पक्ष के समर्थन में पर्याप्त सफलता मिली। यह पुस्तक विश्व-बन्धु बापू के पास सम्मति के लिये भेजी गई। उन्होंने इसे पढ़ा और कवि के पास इसके संबंध में लिखा भेजा—'*उर्मिला का रुदन अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु साकेत में उसको शायद ही स्थान हो सकता।*' (बापू के पूर्ण विचार को पढ़ने के लिए पृ० सं० १० देखिये)। इससे स्पष्ट होता है, कि 'साकेत' में जो उर्मिला की मूर्ति गढ़ी गई है, उससे बापू सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि इसके नवें और दसवें सर्ग में खामोखाह उर्मिला को रुलाया गया। वह स्वयं तो रोती ही है और इसके साथ-साथ उसका परिवार भी रुदन का गीत गाता है। वह परिवार की समस्या बन गई और उसी के

पीछे सारा परिवार व्यस्त है। दो-दो सर्गों में सिर्फ विरह-वर्णन का झाँकना बापू को कतई अच्छा न लगा और इसमें उन्होंने कला की हीनता पायी। उनकी दृष्टि में 'साकेत' की 'उर्मिला' का रूप कुछ और ही होना चाहिए था। वे चाहते थे कि उर्मिला वियोगिनी होते हुए भी उपदेशिका, देशसेविका समाजनेत्री, बलिदानी, त्यागी का रूप संभाले रखती, परन्तु 'साकेत' में तो इसका पूर्णतः अभाव है। गुप्तजी ने इस अभाव को 'साकेत' मे पाया और उसके पूर्ति के लिए 'यशोधरा' जैसे संस्कृति मूलक काव्य का सृजन किया।

गुप्तजी ने 'यशोधरा' की कथावस्तु के निर्माण मे अपनी मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण परिचय दिया है। इसमें राहुल का बहुत बड़ा महत्व है। यह तो विदित है कि सिद्धार्थ उसे सोते छोड़कर चले गये और यशोधरा एक विरह-विधुरा नायिका है, परन्तु उसकी अन्तर्वेदना में वह पूर्व परिचित उन्माद नहीं जिसका पिष्टपेषण प्रिय-वियुक्त कामिनियों के शृंगारी-कवि युगों से करते आए हैं, न तो चन्द्रज्योत्सना उसे जलाती है, न फिर बसन्त का वैभव ही उसे किसी तरह की व्यथा पहुँचाता है। शीतल और मन्द वायु उसे छेड़ती नहीं न फिर किसी तरह की मानसिक विषमता ही उसके सम्भाषण में प्रकट होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि विरहिणी नायिकाओं के मानस-चित्र के चित्रण में जिन परम्परागत साधनों का उपभोग कवि-समुदाय करता आया है, उसका इस काव्य में गुप्तजी ने सर्वथा वहिष्कार किया है। यह इस ग्रन्थ की अभिनंदनीय विशेषता है। इस दृष्टि से 'यशोधरा'

की अन्तर्वेदना 'साकेत' के उर्मिला-उत्ताप से अधिक संस्कृत, मौलिक और मनोहर है। ऐसा हुआ क्यों? क्योंकि सिद्धार्थ के 'महाभिनिष्क्रमण' के बाद उसकी गोद में एकमात्र उसकी गुदड़ी का लाल, राहुल ही रह गया था और इसके अलावे उसके भाग्य में रोने के सिवा और रह ही क्या गया था। पर वह 'साकेत' की उर्मिला की तरह दहाड मार-मार कर नहीं रोती है, वह रोती है अवश्य पर अपने दिल के एक कोने में क्योंकि वह समझती है कि हमें स्वयं रोने के साथ-साथ दुनियाँ वालों को रूलाने का कोई अधिकार नहीं है और इसके साथ-साथ वह यह नहीं चाहती है कि उसकी गुदड़ी के लाल पर उसके विरह-ताप की छाया भी पड़े। अगर कथा-वस्तु के विकास-क्रम में राहुल न होता तो वह रो भी सकती थी। इसके साथ-साथ बापू के आदर्श का भी पालन न होता इसी आदर्श तक पहुँचने के लिए गुप्तजी ने अपनी प्रतिभा का उचित व्यय किया है। *'हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि यशोधरा में वास्तव में महात्मा के इंगित को ही ग्रहण करके इस युग के उपयुक्त एक ऐसा महान आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जो हमारे आकुल जीवन में शक्ति का संचार करने वाला है और जिसके कारण कवि की यह कृति विश्व-साहित्य में उच्च स्थान की अधिकारिणी हो सकी है।'*

सिद्धार्थ की प्रणयिनी गोपा एक राजमहिला है। उसके पास सभी आधिभौतिक साधन प्रस्तुत हैं। अतएव वह बाणभट्ट की महाश्वेता के सामान विरह-दाह शमनार्थ शीतल पुष्प-शय्या पर सो सकती है पर वह अपना जीवन एक

तपश्चर्या-निरत योगिनी के समान फलाहार करके व्यतीत करती है। उसकी आंखे प्रियदर्शन से वंचित होकर अश्रु मोचन करती है सही क्योंकि वह नेत्रों का स्वभाव है परन्तु नारी हृदय की पवित्र भावना उससे कहती है

'सोने का संसार मिला मिट्टी में मेरा।
इसमे भी भगवान भेद होगा कुछ तेरा॥

अप्रतिम श्रद्धा की इस धारणा से प्रेरित होकर वह एक वीर नारी के समान वियोग-यंत्रणा को झेलने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। राजा शुद्धोदन गोपा को सान्त्वना देने के लिए कहते हैं कि सिद्धार्थ की खोज के लिये चतुर चरों को भेजा जाता है। पर गोपा एक वीर क्षत्राणी की तरह कहती है 'तात, खोज करना उन्ही के प्रतिकूल है।' यहाँ पर हम देखते है कि गुप्तजी ने गोपा के इस रूप का दिग्दर्शन करा बापू के आदेश का समुचित पालन किया है। वस्तुतः यशोधरा इस तरह की बातें इसलिए कहती है कि उसकी सान्त्वना के लिए गोद में राहुल है। राहुल की ममता ने यशोधरा के हृदय मे मान का भाव भर दिया है। इसी मान की रक्षा करने मे यशोधरा ने अपना सारा जीवन राहुल के पालन-पोषण में बिता दिया।

यह तो सत्य है कि यशोधरा युग-नारी का प्रतीक है। वह आज की नारी की तरह कार्यों को न्यस्त करती है। उसकी आँखों में आँसू है, पर उसका प्रदर्शन एक स्थल पर अत्यन्त सुन्दर हुआ है। राहुल और माता यशोधरा के संभाषण में

यह प्रसंग आया है। माता यशोधरा की आँख से एकाएक आँसू की लड़ी ढुलक पड़ी और उसके मुख से निकल पड़ा।

'बेटा तू ठीक कहता है। ओ मेरी आँखों में क्या आ पड़ा ?'

राहुल कह उठता है

'निकल गया माँ! तेरा आँचल तो भीग गया। अरे, यह तो देख ?' यहाँ पर राहुल की उक्ति के कारण ही यशोधरा की वेदना का प्रकटीकरण हुआ है। अगर यहाँ पर राहुल न होता तो ऐसी मार्मिक उक्ति कहाँ मिलती। वस्तुतः यहाँ पर कला की कमनीयता और आदर्श का सुन्दर संतुलन हुआ है और वह भी राहुल के ही कारण। इस प्रकार देखते हैं कि राहुल के कारण ही कला की मर्यादा की रक्षा हो सकी है।

इसके अतिरिक्त, राहुल ने कथावस्तु के विकास में प्रगति दी है। अगर राहुल न होता तो कथावस्तु स्थिर (Static) रहती, गत्यात्मकता (Dynamic) आती ही नहीं। राहुल के कारण ही हम माँ-पुत्र का सुन्दर संवाद सुन पाते हैं। यह कटु सत्य है कि नारी जीवन की सफलता है उसका जननी रूप, जिसकी पूर्ति के लिये कथानक मे राहुल का रहना अनिवार्य है। इसमें अगर राहुल का प्रसंग न होता है तो मानिनी गोपा के जननी रूप का भी मूल्यांकन न होता। (इस संबंध में 'नारी-भावना' शीर्षक निबन्ध पढिये)। हाँ, सिद्धार्थ ने गोपा को 'श्वेत के साथ श्याम' समझ कर सोते छोड़ ही दिया था। उसे यह अच्छा न लगा और वह मरण का 'आवरण' वरण करने को प्रस्तुत हो भी गई, पर एकाएक राहुल की स्मृति ने गोपा के प्राण-पखेरू को उड़ने से रोक रखा।

क्योंकि उसे तो मरने का अधिकार ही हस्तगत न था जैसा कि वह स्वयं कहती है

'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार।
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार॥

अब राहुल की मुखाकृति को देखकर उसके 'आँचल का दूध' टपक पड़ा और इसी बीच जाया-जननी में द्वन्द्व छिड़ गया। अंत में जननी रूप को विजय मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथानक की इमारत राहुल के कारण ही ढहने से बच जाती है। कथावस्तु के मध्य में राहुल की कड़ी न होती तो इसका निर्माण ही हास्यास्पद हो जाता। अस्तु, गुप्तजी ने राहुल को कथा की लड़ी में पिरोकर अपनी प्रतिभा का सुन्दर प्रदर्शन किया है, जो अन्य कवियों में कम पाया जाता है। यही है गुप्तजी की मनोवैज्ञानिक कला।

यशोधरा का कला-पक्ष

गुप्तजी द्विवेदी-युग के कवि हैं और उस युग की रचनाओं में उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रही है। बात सत्य है और यह गुप्तजी की रचनाओं में पूर्णतः वर्तमान है, पर इनकी 'प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करने चलने की शक्ति।' गुप्तजी ही एक ऐसे कलाकार हैं, जिन्होंने प्रत्येक युग के साथ अपना चरण मिलाया है। यही कारण है कि गुप्तजी हिन्दी के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

गुप्तजी की 'यशोधरा' की रचना छायावाद-युग मे हुई है और इस पुस्तक में छायावाद की विशेषताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। यों तो छायावाद का जन्म द्विवेदी-युग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। यहाँ पर छायावाद के इतिहास और उसकी रूप-रेखा पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। इस संबंध में प्रो० शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न ने अपनी पुस्तक 'काव्यालोचन के सिद्धान्त' में स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया है। हम उन्हीं के शब्दों में कह सकते हैं कि 'यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक नवीन है। पुराने ईसाई सन्तों के भजन या गीतो मे जो आध्यात्मिक रूपकात्मक अभास पाया जाता था, उसे 'छाया या-Phantastuates कहते थे। उसी के अनुकरण पर ब्रह्म-समाज

के प्रभाव से बंगला में इस प्रकार के गीतों की रचना होने लगी जिसमें वर्ण्यवस्तु के अलावा किसी अन्य अर्थ की ओर रहस्य-भरे सकेत होते थे। बंगला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के प्रभाव से हिन्दी में भी यह पद्धति आयी और इसके विरोधियो ने इसका उपहास करने के लिए इसे छायावाद कहा। पीछे यह नामकरण सर्वमान्य हो गया। जयशंकर 'प्रसाद' छायावाद-युग के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। उनकी 'इन्दु' मासिक पत्रिका में इस प्रकार की रचनाओं के प्रथम दर्शन हुए। प्रसादजी की काव्य-पुस्तकें 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी'; सुमित्रानन्दन पंत की 'वीणा', 'गुञ्जन' और 'पल्लव'; महादेवी वर्मा की 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' (=यामा) और 'दीपशिखा'; निराला की 'अनामिका' और 'गीतिका' रामकुमार वर्मा की 'चित्ररेखा', 'निशीथ' और 'चंद्रकिरण' आदि में हम छायावाद की प्रवृति पाते हैं।

इन रचनाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए छायावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं

(१) विषय-पक्ष: (क) आत्मनिष्ठता (Subjectivity) छायावाद का विषय संसार नहीं, समाज नहीं, कवि का अपना हृदय है। छायावाद का कवि बहिर्जगत् की नहीं, अन्तर्जगत की तस्वीर खींचता है। बाह्य-विश्व या मानवेतर प्रकृति (जड़ अथवा चेतन) उसकी कविता में आती है तो उसके हृदय का अंग बनकर, उसकी भावना, कल्पना और अनुभूति में स्नात बनकर। अपनी अन्तः प्रकृति की प्रतिक्रिया को ही उसकी काव्य-दृष्टि महत्व प्रधान करती है।

(ख) अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति में तादात्म्य अथवा कवि के हृदय और विश्व के त्रिविध दृश्यावलियों के बीच एक व्यापक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करना छायावाद की दूसरी विशेषता है। व्यक्ति प्रधान होने के कारण छायावाद के काव्य में मानव-जीवन से मानवेतर प्रकृति का महत्त्व कम नहीं है; क्योंकि मनुष्य की दृष्टि जब समाजनिष्ठ होती है तब मानव-लोक की विविध समस्याओं और विषमताओं के कोलाहल में प्रकृति के सूक्ष्म प्रभावों का आस्वादन करने का अवकाश ही उसे कहाँ मिलता? समाज से अलग, एकान्त में ही मनुष्य-हृदय अपने प्रकृत सहचरों, नक्षत्र, निर्झर, कुसुम, ऊषा, संध्या आदि के साथ हँस-रो सकता है। छायावाद के काव्य में इसी हेतु प्रकृति मानव की सहचरी बनकर एक सजीव व्यक्तित्व धारण किये आती है और कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के विभिन्न अवयव मानों एक ही महाप्राण के विविध प्रकाशन हैं। संक्षेप में छायावाद की दूसरी विशेषता हुई, मानव और प्रकृति का अथवा ससीम और ससीम का अथवा आत्मा और आत्मा का संबंध। इसी संबंध की चरम उपलब्धि में सर्ववाद या सर्वात्मवाद (Pantheism) निहित है, अंग्रेजी के वर्ड्स्वर्थ आदि कवियों में जिसका आभास हम पाते हैं। १

१ प्रत्यक्ष जगत् में ससीम और ससीम के इस संबंध के अतिरिक्त परोक्ष असीम के प्रति जिज्ञासा या कौतूहल का भाव भी कवि के हृदय में सम्भव है। काव्य में इसकी अभिव्यक्ति भी छायावाद के ही अन्तर्गत कही जायगी। पंत की 'मौन-निमंत्रण' शीर्षक कविता उदाहरण है।

(२) शैलीपक्ष: (ग) छायावाद के काव्य में रागात्मक तत्व का अत्यधिक प्राधान्य होता है। कवि भावना के चरम उत्कर्ष-बिन्दु पर स्थित होता है। बुद्धितत्व के अपेक्षाकृत अभाव के कारण भावतत्व के अतिशय्य के फलस्वरूप छायावाद का काव्य प्रगीत मुक्तकों में ही अभिव्यक्ति खोजता है। क्योंकि प्रबन्धात्मकता के लिए अनिवार्य बुद्धि-शृंखला के लिए उसमें अवकाश नहीं। अतः कामायनी-जैसी प्रबन्ध-रचनाओं की अपेक्षा 'पल्लव', 'लहर' अथवा "यामा' में छायावाद अपनी सम्पूर्णता में अधिक अभिव्यक्त है।

(घ) छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अभिव्यंजना शैली। विषय की सूक्ष्मता और अमूर्त-योजना के फलस्वरूप उस विषय की अभिव्यक्ति का ढंग भी उसी अनुपात में सूक्ष्म होना आवश्यक है। साधारण गद्य की भाषा से काम नहीं चल सकता। अतः छायावाद की काव्य-शैली में हम दो बातें अधिकतर देखते हैं (i) लाक्षणिक वैचित्र्य और (ii) हृदय की प्रस्तुत भावनाओं के वर्णन के लिये प्रकृति आदि के क्षेत्र से चुने हुए अप्रस्तुत प्रतीकों की योजना।

लाक्षणिक पदों का प्रयोग अधिक निष्प्रयोजन नहीं होता। अभिधा से अवर्णनीय किसी गंभीर तथ्य की व्यंजना उसका अभीष्ट होता है।

प्रतीक-योजना (Symbolism) साम्य के आधार पर होती है। ये साम्य तीन प्रकार के होते है रूप-साम्य, गुण-साम्य, प्रभाव-साम्य। कहीं-कहीं यह साम्य इतना दुरारूढ़ और धुंधला हो जाता है कि पंक्तियों का अर्थ समझने में भी कठिनाई

पड़ सकती है। इस प्रकार के प्रतीकों की योजना में अक्सर हृदय की कोई भावना या अनुभूति, उपमेय या प्रस्तुत और प्रकृति का उससे साम्य रखने वाला कोई अवश्य उपमान या अप्रस्तुत हुआ करता है। उपमेय (प्रस्तुत) का कथन नहीं होता, उपमान (अप्रस्तुत) के कथन द्वारा उसकी व्यंजना होती है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार में भी यही होता है। पर प्रतीक-पद्धति में उससे यह अन्तर है कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों बाह्य, पार्थिक क्षेत्र के हो सकते हैं; पर प्रतीक-पद्धति में प्रस्तुत सूक्ष्म और अगोचर अथवा मानव-भावनाओं से संबंध रखने वाला तथा अप्रस्तुत उसके प्रतीक के रूप में गोचर प्रकृति के क्षेत्र की वस्तु होता है। कभी कभी यह प्रतीक रूढ़ (Conventional) हो जाता है। ......"आभ्यांतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्यशैली की असली विशेषता है।"

(ङ) छन्दों की दृष्टि से छायावाद का कवि स्वच्छन्द मनोवृत्ति का होता है। काव्य-शास्त्र में वर्णित रूढ़िगत और परम्परानुमोदित छन्दों तक की उसकी रुचि की परिमिति नहीं होती, वरन् विषय की सूक्ष्मता-गंभीरता के अनुपात में वह अपने स्वतंत्र-छन्दों की योजना करता है। छायावाद-युग में इसी हेतु अनेक नूतन छन्दों का आविष्कार हुआ। वस्तुतः इस दिशा में छायावादी कवि की दृष्टि प्रयोगात्मिका होती है'। ×

× काव्यलोचन के सिद्धांत प्रो० शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०
पृ० सं० ६६—७३

हाँ, अबतक हमने यह देखा कि प्रो० शिवनन्दन प्रसाद जी की दृष्टि में छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है अभिव्यंजना-शैली और आचार्य शुक्ल ने भी इसी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अच्छा अब हमें यह देखना है कि 'यशोधरा' में इस काव्य-शैली का प्राचुर्य है या नहीं। अब हम एक-एक कर इस पर विचार करते हैं।

लाक्षणिक वैचित्र्य

यह तो सत्य है कि गद्य की भाषा पद्य से भिन्न होती है। गुप्तजी ने अपनी सूक्ष्म एवं मर्मस्पर्शी भावों की अभिव्यक्ति के लिये लाक्षणिकता का आँचल पकड़ा है। गुप्तजी की 'यशोधरा' में लाक्षणिकता का प्राचुर्य दृष्टिगत है। यथा

(क) अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!

इसमें 'आँचल में दूध होना' मुख्यार्थ की बाधा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'जननी के स्तन मे दूध का होना'। अस्तु, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सामीप्य-संबंध है। इससे यह शुद्ध लक्षणा है।

(ख) जाग, दुःखिनी के सुख, जाग! [पृ० स० ६७]

यहाँ पर 'दुःखिनी के सुख' कहने में मुख्यार्थ की बाधा है। इसका लक्ष्यार्थ है—विरहिणी यशोधरा का पुत्र राहुल ['दुःखिनी' यशोधरा के लिए और 'सुख' राहुल के लिए आया है]। अतः यहाँ पर वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ मे कार्य-संबंध से लक्षणा है।

(ग) रुदन का हँसना ही तो गान।

'रुदन का हँसना' मुख्यार्थ की बाधा है। 'हँसना' का अर्थ है बढ़ना, फैलना अर्थात् यहां पर अर्थ 'यह होगा कि

वेदना के तीव्र होने से ही गीत का सृजन होता है यही लक्ष्यार्थ है।' यहाँ पर सादृश्य-संबंध लक्षणा है। इससे यह सादृश्य ही गौणी लक्षणा का कारण है। [गौणी लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य संबंध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय]

और

चातक की हुत-हृदय-हूति जो, सो कोयल की कूक।

—इसमें भी 'चातक की हुत-हृदय-हूति' में भी सादृश्य-संबंध लक्षणा है।

(ङ) गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।

और

मीड मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक;

इसमें उपादान लक्षणा है। [जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादान लक्षणा होती है]

(च) यशोधरा किन्तु कोई अनय करे तो हम क्यों करें?
राहुल और नहीं माथे पर क्या उसे धरें?

[पृ० सं० १०२]

'इसका यह विपरीत अर्थ होता है कि हम अन्याय को सिर-माथे पर नहीं धर सकते। मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से उक्त अर्थ होता है। मुख्यार्थ छोड़ लक्ष्यार्थ का ग्रहण है। इससे यहाँ लक्षण-लक्षणा है।' [जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़ कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे, वहाँ लक्षण लक्षणा होती है]

(छ) कादम्बिनी-प्रसव की पीड़ा हँसी तनिक उस ओर,
क्षिति का छोर छू गई सहसा वह बिजली की कोर !

इसका व्यंग्यार्थ कुछ इस प्रकार है जिस प्रकार एक स्त्री को प्रसव की पीड़ा के उपरान्त् पुत्र की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विद्युत की उत्पत्ति कादम्बिनी की प्रसव-सी प्राणांतक पीड़ा के उपरान्त ही होती है। इसमें लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना है। [जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना कहते हैं।]

(ज) स्वयं-सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम के प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में क्षात्र धर्म के नाते।

'इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि वे कहकर भी जाते तो हम उनके इस पुण्य-कार्य में बाधक नहीं होतीं। उनका चुप-चाप चला जाना उचित नहीं था। यहाँ प्रस्ताव या प्रकरण बुद्धदेव के गृह त्याग का है। यह प्रस्ताव न होने से यह व्यंग नहीं निकलता। [जहाँ प्रस्ताव से अर्थात् प्रकरण वश वक्ता के कथन में, व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है]

(झ) अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी॥

'यहाँ 'कुसुमादपि सुकुमारी' और 'वज्रादपि कठोर' दोनों प्रौढ़ उक्तियाँ कवि-निबद्ध-पात्र 'यशोधरा' की हैं। उक्तियाँ दोनों ही वस्तु रूप है। प्रौढ़ोक्ति इसलिए है कि फूल से भी सुकुमार और वज्र से भी कठोर होना असंभव है। इसलिए पदगत कवि-

निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध वस्तु से अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है।'

(ञ) उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं सुन चातक की रट पीव कहाँ,
अब भी सब साज समाज वही, तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि ! जा पहुँचे सुध-संग कहीं यह अंध सुगन्ध समीर वहाँ।

यहाँ पर 'यशोधरा का कथन है कि सब साज-समाज वही है तथापि आज सब अनाथ है। यहाँ बिना शब्द के न रहने पर भी वस्तु से (स्वामी के बिना) अलंकार की ध्वनि है।' इसीलिए वाक्यगत कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य है।

प्रतीक-योजना:-

'छायावाद की शैलीगत विशेषताओं के संबंध में प्रतीक-योजना की चर्चा हो चुकी है। कहा जा चुका है कि कभी-कभी कविता में प्रस्तुत विषय के स्थान पर उसके अप्रस्तुत प्रतीकों का व्यवहार किया जाता है और उसके द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना करायी जाती है। कहीं-कहीं प्रतीकों का प्रयोग छायावादी कविता की अभि-व्यंजना पद्धति के अंगरूप न होकर स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में परिलक्षित होता है।......हिन्दी में भी इस प्रकार की कविताएँ समय-समय पर होती आयी हैं, जिसमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से किसी प्रकार के भी प्रस्तुत के स्थान पर उससे किन्हीं अंशों में सादृश्य रखनेवाले अप्रस्तुतों का प्रयोग किया जाता है। कबीर से लेकर आधुनिक कवियों तक यह प्रवृत्ति हम पाते हैं।' × प्रतीक-योजना के संबंध में हमने अन्यत्र विचार कर दिया है।

× काव्यालोचन के सिद्धान्त प्रो० शिवनन्दन प्रसाद, एम० ए०
[पृ० सं० ८७ ८६]

अलंकार-योजना:

अलंकार काव्य की भाषा की सजावट के लिए एक साधन है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि '*अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार है; भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं।*' गुप्तजी ने '*भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखट फिट करने के लिए नहीं बुनी है,*' बल्कि उन्होंने अलंकृत भाषा में अपनी मार्मिक अनुभूतियों को अभिव्यंजित करने का सफल प्रयोग किया है। वस्तुत: ऐसे स्थलों पर भावों की रमणीयता बढ़ाने के लिए अलंकारों का उपयोग उचित है।

शब्दालंकारों में गुप्तजी ने अनुप्रास तथा श्लेष का सुन्दर उपयोग किया है। अनुप्रासादि शब्दालंकारों की छटा तो प्राय: अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती हैं; और इस कला में गुप्तजी पटु हैं। यों तो कहीं-कहीं उसका भद्दा रूप भी आ खड़ा हुआ है, यथा-

मुक्ति-हेतु जाता हूँ यह मै, मुक्ति, मुक्ति, बस मुक्ति!

तथा (ख) श्लेष का इतना सुन्दर दृष्टान्त बहुत कम लोगों ने प्रस्तुत किया है। ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं, देखिए

'क्यों जी प्राणवल्लभ कहूँ या स्वामी मैं,
चौंक, कुछ लज्जित-से बोले हँस आर्यपुत्र
'योगेश्वर क्यों न होऊँ, गोपेश्वर नामी मैं!
किन्तु चिन्ता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ
तो हूँ जार पीछे, प्रिय पहले, हूँ कामी मैं!'

अधोरेखांकित पदों में दो-दो अर्थ छिपे हैं और इन्हीं शब्दों की आड़ में पति-पत्नी का हास भी छिपा हुआ है।

(ग) गुप्तजी की 'यशोधरा' में उपमा की भरमार है। एक-दो उदाहरण काफी है

(क) देख कराल काल-सा जिसको कांप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग मा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय-जय से ?

(ख) दिव्य-मूर्ति-वंचित भले चर्म-चक्षु गल जायँ,
प्रलय ! पिघल कर प्रिय न जो प्राणों में ढल जायँ,
जैसे गंध पवन में।

(ग) सखि, बसन्त-से कहाँ गये वे, मैं उष्मा-सी यहाँ रही,

(घ) सती शिवा-सी तपस्विनी माँ, देख दिवा यह आ रही,
भर गंभीर निज शून्य स्वय ही उसको तुझ सी था रही।

(ङ) बेटा रे, प्रसव की-सी पीड़ा मुझे होती है।

(घ) अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग वर्त्तमान हिन्दी कविता में बहुत होता है। गुप्तजी ने भी 'यशोधरा' में इसका प्रयोग किया है

जीर्ण तरी, भूरि भार, देख, अरी, एरी !
कठिन पन्थ, दूर पार. और यह अँधेरी !

(ङ) स्मरण अलंकार का एक बहुत सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जाता है

उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड अंशु-अबीर जहां,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं सुन चातक की रट "पीव कहां!"
अब भी सब साज समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहां,
सखि, जा पहुंचे सुध-संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहां!

(च) सांगरूपक अलंकार का दृष्टान्त देखिये

निशि की अँधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में तेरे, न जाने कौन सज्जा हो रही!
मेरी नियति नक्षत्र-मय ये बीज अब भी बो रही,
मैं भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही?

(छ) सन्देह अलंकार का निदर्शन निम्न पंक्तियों में है

यह प्रभात या रात है घोर तिमिर के साथ,
नाथ, कहां हो हाय तुम? मैं अदृष्ट के हाथ!

(ज) रूपक अलंकार का गुप्तजी ने बहुत प्रयोग किया है और उन्होंने संगीत से उपमान लाये हैं यथा

(क) मींड़ मसक है कसक हमारी. और गमक है हूक।
(ख) राग है सब मूर्च्छित आह्वान।
(ग) गान्ध है जिनका जीवन दान।

(झ) उत्प्रेक्षा और रूपक का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये

किरणों ने कर दिया सवेरा, उत्प्रेक्षा
हिमकण-दर्पण में मुख हेरा, रूपक
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा,

(ञ) उत्प्रेक्षा का एक नवीन उदाहरण दिया जाता है

घुसा तिमिर अलकों में भाग,

इसके अर्थ करने में 'मानों' शब्द छिपा हुआ है।

(ट) फलोत्प्रेक्षा का कुछेक उदाहरण देखिये

(क) पर गोपा के भाग्य-भाल का उलट गया वह इन्दु,
टपकाता है अमृत छोड़ कर, ये खारे जल-बिन्दु!
कौन लेगा इनको भगवान?

(ख) उलट पड़ा यह दिव-रत्नाकर पानी नीचे ढलक रहा,
तारक रत्नहार सखि उसके खुले हृदय पर झलक रहा।
'निर्दय है या सदय हृदय वह?' मैंने उससे ललक कहा।
हँस बोला 'ग्रह-चक्र देख लो!' पर न उठे ये पलक हहा।

(ठ) नीचे एक उदाहरण हेतूत्प्रेक्षा का दिया जाता है

यदि उमग भरता न अद्रि के ओ तू अन्तर्दाह,
तो कल कल कर कहाँ निकलता निर्मल सलिल प्रवाह!
सुलभ कर सबको मज्जन-पान।

(ड) रूपकातिशयोक्ति अलंकार का दृष्टान्त लीजिये

(क) मेरी नयन-मालिके! माना, तूने बन्धन तोड़ा,
पर तेरा मोती न बने हा! प्रिय के पथ का रोड़ा।

(ख) छेड़ो न वे लता के छाले, उड़ जावेगी धूल,
हलके हाथों प्रभु के अर्पण कर दो उसको फूल।

(ग) तेरा चन्द्रहार वह टूटा, किसने हाय, भरा घर लूटा?
अर्णव-सा दर्पण भी छूटा, खोना ही, खोने में!

(ढ) काव्यलिंग का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देखिये

'जल के जीव हैं मां, मीन;
नयन तेरे मीन-से हैं, सजल भी क्यों दीन?

(ण) उल्लेख अलंकार का भी उदारहण मिलता है

सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में,

(त) स्वभावोक्ति अलंकार का तो प्रचुर दृष्टान्त दृष्टिगत होता है

(क) पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,

(ख) जलता स्नेह जलावेगा ही,
फोले वाष्प फलावेगा ही,
मिट्टी मेह गलावेगा ही,
सब सहने को देह बना। जलने को ही स्नेह बना!

(थ) विरोधा भास का भी उदाहरण है

(क) पर अथाह पानी रखता है पर सूखा-सा गात्र।

(ख) खो दिया सुयोग स्वयं, चूकी हाय अम्ब, तू;
पाकर भी पा न सकी निज अवलम्ब तू।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने सादृश्य अलंकारों का ही अधिक आश्रय लिया है, और सब अलंकारों की संख्या अल्प है। कवि का अभीष्ट अलंकार-वैचित्र्य प्रदर्शन नहीं है बल्कि गोपा के विरहिणी जीवन की तस्वीर आँकना है।

छन्द-योजना

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भारतेन्दु-युग में ही नवीन छन्द और नवीन भाषा की खोज होने लगी थी, पर द्विवेदी-युग में छन्दों की अनेकरूपता और नवीनता के ग्रहण पर विशेष दृष्टि दी गई थी। और छायावाद-युग में तो छन्द पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया गया। बल्कि इस युग में छन्द विनियोग की मौलिकता तथा स्वच्छंदता का अच्छा विकास हुआ।

गुप्तजी ने अपनी कविताओं में मात्रिक और वर्णिक दोनों तरह के छन्दों का प्रयोग किया है, पर उन्होंने वर्णित वृत्तों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम किया है। 'यशोधरा' के छन्द सभी मात्रिक हैं, और वे पूरे उतरते हैं।

(१) गीतिका छन्द के प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती हैं। इनके भी विश्राम भेद से कई भेद होते हैं। अन्त में लघु-गुरु (IS) होते हैं। इसका उदाहरण देखिये

> सौ सौ रोग खड़े हों सम्मुख, पशु ज्यों बांध परा,
> धिक्! जो मेरे रहते, मेरा चेतन जाय चरा!

(२) ताटङ्क छन्द के प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं और १६ तथा १४ मात्राओं पर प्रायः विश्राम होता है। इसको कोई कोई 'चौबोला' छन्द भी कहते हैं, यथा

> यह भी पता नहीं, कब, किसका समय कहाँ आ बीता है?
> विष का ही परिणाम निकलता, कोई रस क्या पीता है?

(३) सरसी छन्द के प्रत्येक चरण में १६-११ के विश्राम से २७ मात्राएँ होती हैं

(क) मुक्ति हेतु जाता हूं यह मैं, मुक्ति, मुक्ति, बस मुक्ति।
मेरा मानस-हंस सुनेगा और कौन सी युक्ति?

(ख) छेड़ो न वे लता के छाले, उड़ जावेगी धूल,
हलके हाथों प्रभु के अर्पण कर दो उसको फूल,

(४) रोला छन्द के प्रत्येक चरण मे २४ मात्राएँ होती है

"रोना-गाना बस यही जीवन के दो अंग;
एक संग में ले रही दोनों का रस-रंग!"

(५) हरिगीतिका छन्द के प्रत्येक चरण मे २८ मात्राएँ होती है। सोलह और बारह पर यति होती है। अन्त मे लघु-गुरु होते हैं

'देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन नागदत्त जिस हय से,

(६) 'वीर' छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ होती है और विश्राम प्रायः १६ और १५ मात्राओं पर होता है

तू जितना ऊँचा, उतना ही गहरा है यह जीवन कूप,
किन्तु हमारे पानी का भी होगा तू ही साक्षी रूप।

(७) आर्या छन्द के पहले और तीसरे चरण में १२ मात्राएँ, दूसरे और चौथे चरण में १८ मात्राएँ होती हैं

'नाथ, कहां जाते हो?
अब भी यह अन्धकार छाया है।
हां जग कर क्या पाया,
मैंने वह स्वप्न भी गँवाया है।

(८) कहीं कहीं कवि ने छन्द-शास्त्र की प्राचीन परिपाटी की परिधि में बंधे रहना स्वीकार नहीं किया है। यों तो छन्द-शास्त्र ने कवि को यह अनुमति नहीं दी है कि वह किसी भी छन्द को अपने मन से घटा बढ़ा सके। लेकिन गुप्तजी ने अपनी भावनाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए तोड़-मरोड़ किया है

आओ हो वनवासी।	१२ मात्राएँ
अब गृह-भार नहीं सह सकती देव, तुम्हारी दासी।	२८ ,,
राहुल पल कर जैसे तैसे,	१६ ,,
करने लगा प्रश्न कुछ वैसे,	१६ ,,
मैं अबोध, उत्तर दूँ कैसे ?'	१६ ,,

(९) यों तो कहीं-कहीं कवि ने अपनी प्रतिभा का सहारा लिया है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उसने छन्द-शास्त्र को एकदम त्याज्य समझा हो। गुप्तजी की कविताएँ इस बात के साक्षी हैं। इसके छन्द संयत और सुश्रृंखल हैं। इसके गीतों में संस्कार (Pattern) अवश्य मिलते हैं और ये भी अत्यन्त व्यवस्थित और सुश्रृंखल हैं।

अन्य विशेषताएँ

अब तक हमने 'यशोधरा' में प्रयुक्त लाक्षणिकता, प्रतीक, अलंकार और छन्द पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य विशेषताएँ भी 'यशोधरा' की भाषा-शैली के संबंध में ध्यातव्य है।

इस संबंध में सबसे पहली बात है गुप्तजी ने भाषा की सफाई की है। दूसरी बात है इनकी भाषा अधिक सरल है

और यही कारण है गुप्तजी की ख्याति का। इसीलिए जनता ने उन्हें हिन्दी का प्रतिनिधि कवि माना है।

तीसरी बात यह है कि इनकी कविताओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग। यथा

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

चौथी विशेषता यह है कि कवि ने कहीं-कहीं तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। यथा -

(क) उड न जाय पक्षी पालों का, आओ हे गुणशाली।

(ख) अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!

पाँचवी विशेषता है; चलते मुहावरों का प्रयोग, परन्तु अल्प-मात्रा में

(क) तब है जब वे दांत उखाड़ूँ, रह भव सागर-चक्र

(ख) आकर इसके दांत तोड दे, जरा भंग कर अंग काय?

(ग) मेरी मलिन गूदड़ी मे भी है राहुल-सा लाल।

छठी विशेषता है प्रान्तिक बोलियों का प्रयोग

(क) गये धन कै कै बार न धिर आये?

(ख) कहती है मुझको चेटी,

(ग) गोखों से लग ललक रहे हैं।

(घ) मेरी बांह गही स्वामी ने, मैंने उनकी छांह गही।

सातवीं विशेषता है ब्रजभाषा के शब्दों का कहीं कहीं उपयोग किया गया है, पर इसका पूर्णत अभाव है जैसे--

सजे श्याम हय, या सित नाग ?

आठवीं विशेषता हैं - इसमें व्याकरण सम्बन्धी भूलें देखने में नहीं आती है।

नवीं विशेषता है प्रसंग-गर्भत्व अर्थात् प्राचीन कथाओं मे जिस प्रसंग का सबंध हो

(क) अमृतपुत्र, उठ, कुछ उपाय कर

यहाँ पर अमृत-पुत्र का प्रयोग बुद्ध के लिए हुआ है।

(ख) तो आवेगे एक दिन, निश्चय मेरे राम!

(ग) तब मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया।

(घ) ओ हो हनूमान उड़े जैसे मा।

दसवीं विशेषता है- री, रे आदि का प्रयोग जो आधुनिक कवियों की कविताओं की एक विशेषता बन चुकी है।

ग्यारवीं विशेषता यह है कि इसमे उर्दू, फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है।

बारहवीं विशेषता है काव्य में नाटकीय शैली का प्रयोग।

तेरहवी विशेषता यह है कि इनके अनेक पद सूक्ति के रूप में परिणत हो गए है

(क) मरने को जग जीता है

(ख) रिसता है जो रंध्रपूर्ण घट, भरा हुआ भी रोता है।

अब हम गुप्तजी की काव्य-भाषा की त्रुटियों की ओर संकेत करते हैं।

(१) उन्होंने संस्कृत के अप्रचलित क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे

(क) वह जन्म-मरण का भ्रमण-भ्राण।

(ख) गुणों को नहीं देखता त्वेष।

(ग) हो जाय और भी प्रबल पाम?

(घ) हे मेरे प्रतिभू, तात, नन्द।

(२) सामासिक-पदों का आधिक्य, जिसके हेतु भावों की दुरूहता बढ़ जाती है

(क) मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति हेतु
बाधूँ अपना पुरुषार्थ-सेतु;

(ख) वह कर्म-कांड-तांडव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास

(ग) ला, हृदय-विनय-रस-वृष्टि-लाभ
पा, हे स्वराज्य, वढ़ सृष्टि-लाभ।

(३) तुकों की बेतुकी

चला गया रे, चला गया!
छला गया रे, छला गया!
दला गया रे, दला, गया!
जला गया रे, जला गया!

(४) तुक मिलाने के लिए मनगढ़ंत शब्दों का प्रयोग। यथा

'ओ क्षणभंगुर भव, राम राम' के साथ तुक मिलाने के लिए

(क) बाहर-बाहर है टीम-टाम

(ख) चिर निद्रा की सब झूम झाम।

(ग) दयनीय, ठहर तू क्षीण-क्षाम।

(घ) तो सत्य कहाँ ? भ्रम और भ्राम।

(ङ) तू तो है मेरे ठौर-ठाम।

आदि का प्रयोग किया है।

(५) मधुर भावों की अभिव्यक्ति में कहीं कहीं क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग जो काव्य का एक दोष बन गया है।

(६) काव्य-प्रसिद्धि दोष भी है यथा

भन भन करता यह काल-व्याल!

यहाँ पर 'भन-भन' नहीं होना चाहिये था, बल्कि 'हन! हन!' का ही होना उचित है।

यों तो गुप्तजी की 'यशोधरा' में कुछ न्यूनताएँ भी हैं, परन्तु इसका इस यह अर्थ नहीं कि वे एक सफल कवि नहीं हैं, बल्कि उन्होंने ही हिन्दी कविता को जीवन दिया, उसके रूप-रंग को संवारा। साधारणतः गुप्तजी की 'यशोधरा' सरल और निखरी हुई खड़ी बोली में है। बस !!

—

उर्मिला और यशोधरा

कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'काव्येर उपेक्षिता' नामक निबंध लिखकर यह दिखलाया था कि संस्कृत के काव्यों में कुछ ऐसी महिलाएँ भी हैं जिन पर कवियों का विशेष ध्यान देना चाहिये था, पर दिया नहीं गया। वाल्मीकि ने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र सीता का चरित्र चमकाने के लिए उपेक्षित किया, पर उर्मिला के चरणों पर गुप्तजी ने 'साकेत' के रूप में पुष्पांजलि चढ़ायी है। इसी चरित्र को अगर रामचरित मानस में आने दिया जाता तो पाठकों की दृष्टि अशोक-वाटिका में बैठी हुई सीता के आँसुओं की ओर उतना न जा पाती। गुप्तजी उर्मिला के प्रति सहानुभूति रखते हुए इस बात को समझते थे। अतः उन्होंने सम्पूर्ण रामायण न लिखकर कथा का वह अंश अलग कर लिया जिसके केन्द्रीय स्थान में उर्मिला की प्रतिष्ठा थी।

यशोधरा की रचना में गुप्तजी ने प्रेरक शक्तियों में अगर किसी को महत्व दिया है, तो वह है उर्मिला। यशोधरा भी उर्मिला ही की तरह बहुत दिनों तक उपेक्षिता रही थी। जन-समाज में बुद्ध के जयघोष की ध्वनि से मेदनीतल प्रतिध्वनित हुआ कि श्रद्धातिरेक के उस कोलाहल में यशोधरा की विरह-संतप्त सिसकियाँ विलीन हो गयीं। सभी जानते हैं कि सिद्धार्थ कुमार ने साधना के मार्ग में कितना कष्ट उठाया और कितनी

तपश्चर्या का पालन किया, पर यह किसने सुना कि उस विषय-विरक्त विरागी की परित्यक्त और अनुराग-रत अर्द्धांगिनी ने अपने प्रिय-वियोग की मर्माहत घड़ियाँ कितनी यातना से बिताई ? किसने रहस्य का उद्घाटन किया कि जिस समय मुमुक्षु सिद्धार्थ कुमार पद्मासन लगाकर आत्मनिष्ठ होते हुए 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की झाँकी ले रहे थे, उस समय कपिलवस्तु के राजमहलों में विरह-विधुरा यशोधरा स्नेह-सूत्र में आँसुओं की लड़ियाँ पिरो रही थी ? उसकी विरह-व्यथा को समझने वाली थी केवल उर्मिला और वह भी त्रेता-युग में हो चुकी थी।

'अवधि-शिला का उर पर था गुरु-भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार।'

पर विचारी यशोधरा के लिए तो कोई निश्चित अवधि भी नहीं थी। उर्मिला को कम-से-कम इस बात का आश्वासन था कि 'उसके उपवन का प्यारा हरिण, चौदह वर्ष बनचारी' रह कर लौट आयेगा, पर यशोधरा को इतना भी आश्वासन कहाँ ? उसका हरिण तो बन्धन तोड़कर इस तरह भाग चुका था कि उपवन में उसके लौटने की आशा दुराशामात्र थी। सिद्धार्थ अगर लौट कर आये भी तो प्रणयशील राजपुत्र सिद्धार्थ कुमार के रूप में नहीं, बल्कि ज्ञानी भिक्षु और उपदेशक के रूप में। उर्मिला के ऊपर लक्ष्मण ने कोई अन्याय नहीं किया था, उसके प्रति कोई तिरस्कार की भावना नहीं थी, पर यशोधरा को उसके पति ने अपमानित किया था, उसके आत्म-सम्मान पर प्रबल आघात पहुँचाया था

'सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात।'

यशोधरा की विरह-वेदना निःसंदेह उर्मिला से बढ़ी-चढ़ी है। गुप्तजी को भी जितनी सफलता यशोधरा के चरित्र-चित्रण में मिली हैं, उतनी उर्मिला के चरित्र-चित्रण में नहीं। राम और सीता के प्रति कवि के हृदय में जो पूजा-भाव है वह इतना कुछ गंभीर है कि उसकी रक्षा के लिये उन्हे पक्षपात करते ही बना है। इस अभियोग को स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने महात्मा गाँधी को लिखे गए अपने एक पत्र मे स्वीकृत किया है। *"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी 'मानस' के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानों राजा की मित्रता है जो हाथी पर चढ़ाते चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय उनसे 'साकेत' मे भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना।"* 'यशोधरा' मे भी इसी अभ्यस्त भय के कारण गुप्तजी ने प्रारंभ मे राम की वन्दना मंगलाचरण मे की है और बुद्ध को राम का वंशज बतलाया है, पर राम के व्यक्तित्व का निरूपण गुप्तजी इसमें दूर तक नहीं कर सके, कारण बुद्ध के सामने राम को खड़ा करना असंगत प्रतीत होता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि यशोधरा के जीवन से वैष्णव भावना का बिल्कुल तादात्म्य कर दिया गया है, पर इसकी भी रक्षा वे अंत तक नहीं कर सके और उन्हें वैष्णव और बुद्ध धर्म का समन्वय करना पड़ा, कारण यशोधरा के व्यक्तित्व को किसी भी दशा में अलग नहीं किया जा सकता था। पर यहां गुप्तजी

की वैष्णव-भावना यशोधरा में बाधक नहीं, प्रत्युत सहायक हुई है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के शब्दों में 'विश्लेषणात्मक-मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण' की दृष्टि से, सामूहिक रूप में, हम यशोधरा को 'साकेत' से मूर्धन्य मान सकते हैं, क्योंकि हम आरम्भ से ही उसकी मुख्यपात्री यशोधरा के जीवन में अन्तर्द्वन्द्व पाते हैं। अपने पति के लिये उसे दम्भ भी है, उसमें आत्माभिमान की भी प्रवृत्ति है, आत्मदान की भी, इसके अतिरिक्त उसके मातृत्व और पत्नीत्व में भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धा है और काव्य का मुख्यांश इसी के सूक्ष्म प्रतिपादन में प्रेरित हुआ है। यशोधरा' का सिद्धार्थ भी 'साकेत' के राम से कहीं अधिक मानव है। वह अपनी पत्नी की आलोचनाओं का भागी होता है, किन्तु राम भगवान् हैं, भगवान् अवतार हैं, आलोचनाओं से परे। जितनी जल्दी हम सिद्धार्थ से अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं उतनी राम से नहीं। माइकेल मधुसूदन दत्त के विषय में यह कहा गया है कि उन्होंने मेघनाद के चरित्र-चित्रण में दानव को मानव बना दिया है। उसी प्रकार गुप्तजी के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं कि उन्होंने मानव को अतिमानव बना दिया है।' साकेत के लक्ष्मण भी रामचरित मानस के लक्ष्मण से तीव्र उग्र प्रकृति के हैं। तुलसी के लक्ष्मण जब कभी आवेश में होते थे तो उनके नियंत्रण के लिए रामचंद्र जी का एक संकेत ही पर्याप्त था, परन्तु 'साकेत' के लक्ष्मण ने उन मर्यादाओं की ओर भी ध्यान नहीं दिया जिसकी रक्षा दूसरों के चरित्र की प्रतिष्ठा के लिए तथा उस कुटुम्ब को आदर्श-कुटुम्ब सिद्ध करने के लिए भी आवश्यक थी। 'कहीं कहीं उनकी उग्रता का जो चित्र गुप्तजी ने प्रस्तुत किया है उसे गले

के नीचे उतारने में झिझक होती है।' जैसे, केकैयी के प्रति लक्ष्मण के कटु वचन

'खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह,

उर्मिला का भी चरित्र कुछ स्थलों पर अत्यधिक अतिरंजित कर दिया गया है। वह महाकाव्य की नायिका है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्रत्येक उपेक्षित अथवा अनपेक्षित अवसर पर सामने ला कर रक्खी जाय। कथा का विकास एक पात्र द्वारा ही नहीं अनेक पात्रों के द्वारा होना चाहिये और नायिका को प्रमुख स्थान देते हुए भी सङ्गति का भी ध्यान रखना चाहिये। उर्मिला के वियोग दशा को उचित अभिव्यंजना उसमे कर्त्तव्य-पक्ष के कम करने से सभव था, पर दशरथ के मरण पर भी कौशल्या, सुमित्रा आदि विधवा पत्नियों से अधिक उर्मिला ही व्यथित होती है। यह प्रत्यक्ष ही रसाभास है। एक अन्य अवसर पर जब 'साकेत' की सेना युद्ध के लिए लंका-यात्रा का निश्चय करती है तब उर्मिला एक विचित्र प्रकार का उपदेश देने को सामने होती है। वह सेना को शिक्षा देने लगती हैं कि लंका से सोना मत लाना। यह अप्रासंगिक है। कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के धोखे में उसे उचित से अधिक मुखर बना दिया है। प्रमुखता और मुखरता में भेद है।

पर यशोधरा में इन त्रुटियों की संभावना कम रही है। कथानक गौण होने के कारण यशोधरा की वेदना को ही विशेष प्रश्रय दिया गया है। यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि

यशोधरा किस अवसर पर क्या कहे। यशोधरा को तो यहां सब कुछ कहना है, कहीं जाया के रूप में, कहीं जननी के रूप में इस उपेक्षिता के विरहोद्‌गार में कोई बाधक स्वरूप नहीं है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि 'यदि साकेत' काव्य अपनी कला की चरम सीमा पर है तो यशोधरा उससे एक कदम आगे की वस्तु है। निस्सन्देह उर्मिला और यशोधरा दोनों ही नारियाँ हैं। लोक-सेवा के लिए यशोधरा ने अपना पुत्र राहुल समर्पित किया, यह महान उच्च आदर्श है। वर्त्तमान समय में हमें ऐसी नारियों की आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय नारी का आदर्श जितना यशोधरा में है उतना उर्मिला मे नहीं। वर्त्तमान भारत की नारी का प्रतीक जितनी यशोधरा बन सकती है उतनी उर्मिला नहीं।' बस !!

परिशिष्ट

(१) घूम रहा है .... गति वक्र। [पृ० सं० १२]

जीवन के पहले प्रभात में ही गौतम को संसार में एक चक्र घूमता हुआ प्रतीत होता है। रह-रह कर अनायास ही उनका हृदय प्रश्न कर उठा कि यह किस प्रकार का चक्र है और उन्हें ऐसा मालूम होता है कि अदृष्ट (विधाता, नियति) इस संसार के रस (नवनीत) को अन्तरिक्ष में खींच लेता है और यहाँ सिर्फ छाँछमात्र (तक्र) रह जाता है। जब तक इस संसार में हमारा क्षणभंगुर जीवन है तब तक वह चक्र के द्वारा पीसा जायगा। मानव-जीवन को बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म-ग्रहण कर परिभ्रमण का संताप भोगना पड़ता है और इसमें अभी तक कोई अन्तर नहीं आया है। गौतम कहते हैं कि उसका चक्र अबाध रूप से चलता रहता है और इसकी गति वक्र (टेढ़ी) है।

(२) मैं त्रिविध-दुःख .... सिद्धार्थ नाम। [पृ० सं० १६]

गौतम संसार को तीन प्रकार के ताप दैहिक, दैविक और भौतिक से ग्रस्त पाते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि त्रिविध पीड़ाओं से पीड़ित मानवता को अपने पौरुष से ही दूर करेंगे। जब संसार इस यंत्रणा से परित्राण पा जायगा और जब संसार के कोने-कोने में मंगलमयी ध्वजा फहराने लगेगी, तब ही 'सिद्धार्थ' संज्ञा की सार्थकता है।

(३) वह कर्मकाण्ड .... यजु और साम । [पृ० स० २०]

गौतम महाभिनिष्क्रमण के लिये प्रस्तुत हो रहे हैं। संसार यन्त्रणाओं से बद्ध है और गौतम का कोमल हृदय इन पीड़ाओं को देखकर द्रवीभूत हो गया है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने यज्ञ-प्रधान धार्मिक सिद्धान्त की तथ्यहीनता पर आलोक डालने का स्तुत्य प्रयास किया है

कर्मकाण्ड एक आडम्बर है, एक ढोंग है। इसकी कोई अनिवार्यता नहीं। इस कमकाण्ड की पृष्टभूमि में विनाश का ही भाव परिव्याप्त है। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिये यज्ञों का निर्माण होता है और उन यज्ञों मे निरीह पशुओं की बलि दी जाती है। वहाँ पर आनन्द मनाया जाता है और क्रूरता का ताण्डव-नृत्य भी होता है। परन्तु यथार्थ मे इसके पीछे कोई तथ्य नहीं है, कोई सिद्धांत नहीं। ये सब कार्य सिर्फ अपनी समुत्सुक (व्यग्र) इंद्रियों की तृप्ति के लिये न्यस्त किये जाते हैं। वस्तुत धर्म की आड में ढोंग का ताण्डव हो रहा है। इस बलि के मूल मे साधकों की लोलुप-रसना है। इसकी पुष्टि के लिये, इसके प्रमाण के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के पृष्टों का अवलोकन करें। सचमुच यह मानव का कर्म नहीं है, बल्कि यह एक आडम्बर मात्र है। फिर वे इस संसार की क्षणभंगुरता पर दुःखी होते है और संसार के कल्याण के लिए प्रयाण करते हैं। यहाँ पर समासोक्ति अलंकार है, प्रस्तुत संसार की क्षणभंगुरता लोप है।

(४) *अली, वहीं बात हुई ···· पहले हूँ कामी ।* [पृ० स० २३]

इन पंक्तियों में यशोधरा सिद्धार्थ के वनवासी हो जाने की आशंका का वर्णन अपनी एक सखि से करती है

हे सखि, आज उसी घटना का प्रत्यक्षीकरण हुआ, जिसकी आशंका मुझे पहले स ही थी। मैं यह स्वीकार करती हूँ कि वे राज-प्रासाद के प्राचीर में बद्ध रहनेवाले प्राणी नहीं थे बल्कि वे वन में निवास करनेवाले थे। एक दिन वे किसी विचार पर चिन्तन कर रहे थे और उन्हें ध्यानमग्न देखकर मैंने विनोद-पूर्ण शब्दों में कहा 'क्या मैं आपको प्राण वल्लभ कहूँ या स्वामी।' [यहाँ पर 'स्वामी' शब्द से परिहास किया गया है स्वामी का दो अर्थ होता है एक अर्थ है पति और दूसरा है सन्यासी।] इसे सुनते ही उनकी चिन्तनधारा अवरुद्ध हो गई। एकाएक वे चौंक उठे और लज्जित होकर बोले जब मैं गोपा (यशोधरा) का पति हूँ गोपेश्वर हूँ और गोपेश्वर (गोपियों के प्राण अर्थात् श्रीकृष्ण) होने पर ही श्रीकृष्ण योगीराज हो गये थे। तब मैं गोपेश्वर होकर भी योगेश्वर क्यों न बनूँ ? लेकिन इसकी चिन्ता न करो और अब मैं किसी दूसरी बात पर विचार करूँ। पहले मैं एक सांसारिक व्यक्ति हूँ तब पीछे एक जार हो सकूँगा (यहाँ पर 'जार' शब्द से परिहास किया गया है। जार का दो अर्थ है एक का योग और दूसरा है पर-स्त्री-गामी।)

यह श्लेष अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

(४) *प्रियतम ! तुम श्रुति पथ से ···· खींच न लाये।* [पृ० स० २६]

गौतम, ने सन्यास ग्रहण कर लिया है। उन्होंने यशोधरा को सिद्धि-मार्ग की बाधा समझ कर सोते ही छोड़ दिया।

यों तो वह मानिनी है फिर भी वह आदर्श-नारी के समान उन्हें उपालभ नहीं देती। वह अपने विगत का स्मरण करती है, वर्त्तमान पर आँसू बहाती है क्योंकि उसके प्रियतम उससे वियुक्त हो गये हैं और भविष्य में फिर उनसे मिलन होने की कल्पना करती है जो अंत में सत्य भी होता है।

यशोधरा के निकट गौतम स्थूल शरीर में नहीं हैं, फिर भी उसकी अन्तरात्मा में उनकी सजल प्रतिमा खड़ी है। वह विगत बातों को स्मरण कर अपने बोझिल हृदय की वेदना को प्रकट कर रही है। वह गौतम को 'प्रियतम' शब्द से सबोधन कर कहती है कि तुम हमारे जीवन में विधिपूर्वक आए अर्थात हमारा और तुम्हारा विवाह वेद की रीति से हुआ था। यशोधरा ने गौतम को विवाह होने के पूर्व नहीं देखा था। फिर भी यश, गुण और सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर ही उसने उन्हें अपने हृदय मे स्थान दिया। परन्तु उसने इस बात को प्रकट नहीं होने दिया। गौतम को वह अपने हृदय मे रक्खे हुई थी और वह उनके विषय मे मौन रहती थी, कुछ भी नहीं कहती थी। फिर यशोधरा गौतम को 'हास-विलास' शब्द से सम्बोधित कर कहती है कि तुम हमारे जीवन के शृंगार हो, आनन्ददाता हो, परन्तु हमारा भाग्य खोटा था, जो तुम्हें नहीं रख पाया। जब तुम हमारी आंखों से दूर निकल गये हो तब तुम्हारी रसमयी मूर्ति हमें और भी सुन्दर प्रतीत होने लगी है यशोधरा ऐसी विषम परिस्थिति में क्या कर सकती है? उसकी एकमात्र यही कामना है कि वे जहाँ भी रहे, सुख से रहें उसे अपने ऊपर, अपनी वेदना के आँसुओं के ऊपर पूर्ण विश्वास

है। इसीलिये वह आत्म-विश्वास के साथ स्पष्ट शब्दों मे कहती है कि यदि गौतम उसके निकट नही आये तो उसका यह रुदनमय निश्वास व्यर्थ है।

(६) तप मेरे मोहन का ... हा! जहर मही। [पृ० स० ४२]

इन पंक्तियो में कवि ने प्रकृति-वर्णन के माध्यम मे यशोधरा के विरह का वर्णन किया है। 'षट्ऋतु-वर्णन' के सहारे विरह-वर्णन करने की एक परंपरा चलती आयी है, उसीका पालन गुप्तजी ने किया है। यहाँ पर कवि ने ग्रीष्म ऋतु का अंकन किया है।

यशोधरा यह अनुभव करती है कि सारा संसार गौतम के वियोग मे विकल और उत्तप्त है। ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करती है। वह कहती है कि ग्रीष्म (तप) मेरे गौतम (मोहन अर्थात् कृष्ण) की निर्गुणोपासना का सन्देश भेजने के लिये बगूल उठा रहा है, पर गोपा को भूभत लगाने का, संन्यासिनी हो जाने का अवसर भी तो हस्तगत नहीं हो सका [क्योंकि उसकी गोद मे राहुल है और उसे त्याग कर वह वनवासिनी भी नहीं हो सकती है]। एक गर्मी और दूसरा विरह का ताप जिसके हेतु गोपा का कंठ सूखने लगा। और वेदना के नि.सृत होने से वह पसीने-पसीने हो गई। वह एक टक से गौतम की सांकेतिक तस्वीर उस बगूले में देखती रही, लेकिन वह उसकी आँखों से मृग-मारीचिका की तरह बवंडर के साथ ही ओझल हो गई और चारों ओर गोपा को अंधेरा ही दीखने लगा। अब वह अनुभव करती है कि एक ओर वह स्वयं उनके विरह की अग्नि में भस्म हो रही है, दूसरी ओर गौतम

तपस्या के ताप में जल रहे हैं और तीसरी ओर पृथ्वी भी ग्रीष्म के आतप ताप से जल रही है। इस प्रकार सारा विश्व गौतम के विछोह में रुदन का गीत गाता है और इसी के सागर में गोते लगा रहा है।

(७) *जागी किसकी वाष्पराशि ... आज वही ?* [पृ० स० ४८]

गर्मी के बाद वर्षा-ऋतु का आगमन होता है। गोपा आकाश में मेघ को देखकर कहती है कि यह किसके जले हृदय की (वाष्पराशि) आह है जो पहले हृदय के किसी अनजान कोने में छिपी हुई थी। [यह जो बादल है, वह न जाने आकाश के किस कोने में छिपा हुआ था] ये मेघ किसके हृदय की स्मृतियाँ है, जिसे नियति हृदय के अन्दर बीज-वपन कर रही थी। [जो आज फले-फूले हैं ये पेड़-पौधों कहाँ थे, और सृष्टि अदृश्य में उन्हे बो रही थी] गोपा मूसलाधार पानी को बरसते देखकर कहती है कि जिस प्रकार आज वर्षा हो रही है उसी प्रकार ससार की पीड़ित मानवता को देखकर ही उनकी दया-भरी आँखों से अश्रु-वर्षण होता था। जिस प्रकार आज बिजलियाँ कौंध रही हैं उसी प्रकार गौतम का हृदय संसार के कष्टों को देखकर विकल हो उठता था, उत्तप्त हो उठता था। गोपा को ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी तरह किसके व्यथित हृदय का शत-सहस्र करुण-स्रोत उमड़ पड़ा है। सारी संसृति गौतम के वियोग में विलाप कर रही है।

(८) *उनकी शान्ति कान्ति ... मूर्च्छा बनी रहे।* [पृ० स० ४८]

वर्षा के बाद शरद्-ऋतु का आगमन हुआ है। चारों ओर की दिशाएँ स्वच्छ एवं निर्मल हो गई है। इसी को देखकर

वह कहती है कि गौतम की सौम्यमूर्त्ति की अकलुष दीप्ति ही चन्द्रमा की ज्योति बनकर पृथ्वी पर छा गई है। संसार को स्वच्छ और निर्मल देखकर उसका मन-मयूर नृत्य कर उठता है और उसे विश्वास हो जाता है कि गौतम ने सिद्धि प्राप्त कर ली है। डोलते पत्ते पर चन्द्रमा की शीतल किरणें पड़ रही है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये सिद्धि-प्राप्त गौतम के आगमन हेतु ही रंगरेलियाँ कर रहे है।

सरोवर मे कमल को फूलते देखकर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सरोवर, जो गौतम के बनवासी हो जाने के कारण चेष्टारहित हो गया था, वह गौतम के आगमन की खुशी मे आनन्द मना रहा है।

परन्तु गोपा के जीवन की दुपहरी अभी तक पूर्व-वत ही है, उसमें कोई मौलिक अंतर नहीं आया है।

(६) पेड़ों ने पत्ते ·········दूध-दही। [पृ० स० ४३]

पतझड़ का आगमन हुआ है। चारो ओर पतझड़ व्याप्त गई है। इसे देखकर वह कहती है कि गौतम के उत्सर्ग के हेतु ही पेड़ों ने भी अपने पत्तों का त्याग किया। और मेरी वेदना संसार के चारो ओर कुहासा बनकर छा रही है। सध्या समय गृहस्थ अपने घर के आँगन में अंगेठी लगाते हैं और उसके चारो ओर बैठ कर अपनी सर्दी मिटाते हैं। इसे देखकर गोपा कहती है कि गौतम की तपस्या की पंचाग्नि से प्रभावित होकर ही इन गृहस्थों ने अपने घरों मे अग्नि-शालाएँ लगायीं। इसी तरह इन लोगों ने अपना कम्पन तो दूर कर लिया है पर गोपा का कम्पन दूर नहीं हुआ। अंत में शेष-

प्रकृति को सफल होते देख कर कहती है कि जल तो जम कर वर्फ का चट्टान बन गया लेकिन गोपा के बुरे दिन अच्छे नहीं बन पाये अर्थात् उसकी मनोवांछित आकांक्षाएँ सफलीभूत नही हुई।

(१०) *आशा से अकाश ......विनय यही।* [पृ० स० ४३]

संसार में ऋतु-परिवर्तन हुआ अवश्य, पर उसके दिन लौट आये। गोपा का भाग्य अभी रुदन का ही फल भोग रहा है, पर फिर वह भी आशा का दामन थामें है। यशोधरा को आशा है कि उसके जीवन-धन एक न एक दिन अवश्य लौटेंगे। अपने इस भाव को वह आकाश में देखती है और कहती है कि यह अधारहीन आकाश आशा की भित्ति पर ही टिका हुआ है क्योंकि रात्रि के उपरान्त नियति के क्रमानुसार दिन का आगमन होता अंधकार के अनन्तर "आलोक से सारा विश्व जगमग-जगमग हो जाता है। इसीलिए यशोधरा भी अपने प्रिय-मिलन की आशा को लिये जी रही है। इस समय प्रिय-वियोग मे उसका जीवन रात्री के सदृश्य अंधकारमय हो रहा है लेकिन उसे विश्वास है कि कल्ह उसके जोवन का भी सवेरा होगा, उसका जीवन भी प्रकाशमय होगा, नये नये पल्लव भी पल्लवित होंगे। सूर्योदय होने से संसार के प्रत्येक प्राणी ने नवीन रस का पान किया। चारो ओर उल्लास ही उल्लास दृष्टिगत होता है। गोपा प्रफुलित तथा सौन्दर्यमय फूलों में अपने स्वामी के कल्याणमय भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखती है। जिस प्रकार फूलों के सुगन्ध से सारा उपवन गूंज रहा है उसी प्रकार कल्ह उसके पति के यश और

कीर्ति संसार में विकसित होगे। जब यशोधरा की दृष्टि वेगवती निर्झरिणी की ओर पड़ती है तब उसे ऐसा भास होता है मानों ये उसके पति के पाद्य-प्रक्षालन करने के लिये विकल दौड़ी जा रही है अर्थात् उसे विश्वास है कि मनुष्य तो क्या प्रकृति भी गौतम के चरणों पर झुकेगी। सारा विश्व उन्हे पूजेगा और यशोधरा को उसके त्याग के प्रतिफल में अपने स्वामी का कल्याण प्राप्त होगा। यशोधरा यही विनय करती है कि सारा संसार उनकी तपस्या का फल भोगे।

(११) निशि की अँधेरी जवनिके ..... वह जो रही [पृ० स० ६३]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने नियति को नाटक के रूप में देखा है। जिस प्रकार नाटक की समाप्ति के बाद जवनिका (पर्दा) गिरा दी जाती है उसी प्रकार कोलाहलमय दिवस के अवसान के उपरान्त सृष्टि नियंता द्वारा रात्री की काली यवनिका गिरा दी जाती है। इस काले पर्दे के गिरने से नाट्यशाला रूपी विश्व मे नीरवता का साम्राज्य छा जाता है। इधर तो नाटक का काला पर्दा गिरा हुआ है पर उधर वेश गृह (नेपथ्य) में न जाने कौन-सा साज-शृंगार हो रहा है। अर्थात् रात्री (दुःख) के उपरान्त एक अदृष्ट जगत (अर्थात् प्रभात याने सुख) की सृष्टि की जा रही है। विश्व की काली यवनिका पर दिखलायी देते हुए नक्षत्र स्वर्णिम प्रभात की सूचना दे रहे हैं। इसीलिये यशोधरा के अच्छे कर्मों के बीज भी अवश्य फलेंगे अर्थात् जब कर्म पर भाग्य निर्भर है तो उसे (यशोधरा को) भी उसके कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति होगी। जब भाग्य-फल कर्मफल पर ही निर्भर है तो फल-प्राप्ति का

भार वहन करने की कोई आवश्यकता नहीं ? संसार आनन्द या शोक दोनों में अश्रु-वर्षण करता है क्योंकि सुख और दुःख की अतिशयता में मानव चेतनाहीन हो जाता है। तो यह समझ लेना यशोधरा के आँसू दुःख के आँसू है, यह भ्रम है। क्योंकि वह तो जानती है कि कर्मफल पर भाग्यफल निर्भर करता है तो वृथा दुःख के आँसुओं की वर्षा क्यों की जाय। उसने जैसा कर्म किया है वैसे ही फल की प्राप्ति हो रही है इसलिये न तो उसे अपने विगत जीवन पर पश्चाताप है और न वर्तमान जीवन की घटनाओं पर कोई शोक है। उसे यही संतोष है कि जो बीत चुकी वह भी अच्छी है और जो हो रही है वह भी अच्छी ही है। यहाँ पर कवि भाग्यवादी बन चुका है।

(१२) उलट पड़ा वह .... पलक इहा ! [पृ० सं० ६३]

कवि ने यहाँ पर समुद्र के सांगोपांग रुपक द्वारा रात्री का वर्णन किया है। यह आकाश-रूपी समुद्र उलट गया है जिसके हेतु उसका जल ओसकणों के रूप में पृथ्वी पर बिखर गया है। और यह आकाश जल से रिक्त हो जाने के कारण ताराओ के रूप में रत्नराशि बन चमक रहा है। आकाश के इन जगमग नक्षत्रो को देखकर गोपा के हृदय में यह प्रश्न उठा कि वस्तुत: यह अकाश उसके प्रति (गोपा के) निर्दय है या सदय है ? पर अकाश ने सिर्फ इतना ही कहा कि इन तारों का मडल देख लो जिसके सहारे ज्योतिषी मनुष्य का भविष्य बतलाते हैं, क्योंकि वह स्वय न किसी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शिता करता है और न क्रूरता। इसीलिए अमंगल की अशका से

गोपा की आँखें ग्रह-रूपी तारों के चक्र को देखकर नीचे की ओर ही झुक गई।

(१३) रुदन का हँसना ही तो गान ⋯ मूर्छित अह्वान [पृ० स० ६७]

इस गीत के बहाने यशोधरा अपनी मर्मव्यथा की रागात्मक अभिव्यक्ति करती है

वेदना की चरम सीमा ही संगीत की जननी है। वेदना-बोझिल हृदय संगीत के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है। 'रुदन का हँसना' मे तात्पर्य है वेदना का आतिशय। इसमें सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा है।

यशोधरा की हृदय-वीणा की तान गा-गा कर रोती है अर्थात् यशोधरा के जीवन के मधुर स्वप्न जब टूटने लगते है तो तत्जन्य व्यथा भी उसे मधुर प्रतीत होती है। उसकी निराशा की वेदना भी आशा के समान मधुर बन जाती है।

कवि ने यशोधरा के भावों के लिए संगीत का रूपक प्रस्तुत किया है। यशोधरा की कसक के लिए 'मीड़ मसक' है अर्थात् संगीत के अन्तर्गत वेदना की तीव्र अभिव्यक्ति को उपमान के रूप मे लाया है और हृदय की हूक के लिए उपमान तबले की गमक को माना है।

कवि के दृष्टि में प्रियतम के चरणों में समर्पित बलिदानी चातक के हृदय की आहुति देने में और बसन्त की मादक कोकिला की उल्लसित पुकार में कोई अन्तर नही। वेदना और उल्लास हृदय की एक भावना के दो पहलू हैं। दोनों का मूल है प्रेमोराधना।

संगीत जिन्हें राग-रागिनी के रूप में जानता है वे वस्तुतः प्रेमाकुल विरही की प्रिय-पुकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'आह्वान' को 'मूर्च्छित' इसलिए कहा गया है क्योंकि यह मूर्च्छित व्यक्ति के हृदय का आह्वान है। इसमें विशेष्य-विशेषण संबध से लक्षणा है। 'मूर्च्छित' वियोग की एकादश दशाओं में एक है, इसीलिए इसका वर्णन परम्परानुमोदित है।

(१४) छेड़ो न वे लता के छाले ...... जीवन-दान। [पृ० स० ६८]

यशोधरा की दृष्टि प्रकृति के उपादानों की ओर जाती है तो सर्वत्र वह यही देखती है कि सुख के मूल में दुःख निहित है और दुःख की साधना का परिणाम सुखद होता है। लता का जीवन भी अत्यन्त करुणापूर्ण है, उसके फूल वास्तव में फूल नहीं वरन् आन्तरिक वेदना की जलन से उत्पन्न छाले हैं। यशोधरा के लिए लता के इन छालों को फूलों को लता की मर्मव्यथा को छेड़ना अनुचित होगा, केवल सहज भाव से आराध्य के चरणों में इनको निवेदित कर देना ही यथेष्ट है क्योंकि इन फूलों का त्याग, बलिदान, आत्मोत्सर्ग अथवा पर-सेवा के भाव भरे हुए हैं। गन्ध के बहाने ये फूल अपने जीवन की आहुति चढ़ाते हैं। अतः दुःख तुच्छ नहीं, अवहेलनीय नहीं क्योंकि दुःख ही सुख की जननी है। यशोधरा का तात्पर्य यह है कि उसके जीवन के वर्त्तमान दुःख भी परिणाम रूप में सुख लायेंगे। यही प्रकृति का नियम है। अतएव वह अपनी समस्त व्यथा को—अपनी आँसू की बूंदों को प्रियतम के चरणों में सहज भाव से निवेदित कर देना चाहती है।

(१५) कादम्बिनी प्रसव की ····जलती मुसकान। [पृ० सं० ६८]

यशोधरा की निगाह जब बादल की ओर जाती है तो वहाँ भी इसी नियम की चरितार्थता दीख पड़ती है। वह पाती है कि कादम्बिनी (बादल) के हृदय की प्रसव-तुल्य पीड़ा ही जब हसँती या विकसित होती है या बृद्धि पाती है तो आकाश से पृथ्वी तक बिजली का प्रकाश फैल जाता है। बिजली-रूपी मुस्कान के लिए भी बादल के हृदय में वेदना की अपेक्षा (आवश्यक) है। दुःख से ही सुख निःसृत होता है।

(१६) यदि उमंग भरता... .....मज्जन-पान। [पृ० सं० ६६]

पहाड़ से दुनियाँ को सुख पहुँचानेवाले, स्नान और जल पीने की सुविधा देनेवाले निर्झर को फूटते देखकर यशोधरा कहती है कि पहाड़ के हृदय में भी कोई ज्वाला जल रही है। जब तक दुःख की साधना नहीं होगी तब तक दूसरों की सेवा अथवा कल्याण संभव नहीं।

(१७) पर 'गोपा.......... ..इनको भगवान ? [पृ० सं० ६६]

यशोधरा प्रकृति के इन तीनों उपादनों में लता, बादल और पर्वत में यही नियम कामकरते हुए पाती है कि दुःख का परिणाम सुख होता है लेकिन जब वह अपनी किस्मत की ओर दृष्टि डालती है तो उसे लगता है कि उसके संबंध में प्रकृति का नियम उलटा हो गया। दुःख की साधना के फलस्वरूप भी उसे सुख का अमृत नसीब नहीं। उसे दुःख के आँसू ही हाथ लगते हैं। मानो उसके भाग्य का चंद्रमा उलट गया है, उसका व्यवहार उलट सो गया है क्योंकि अमृत के बजाय वह खारे आँसू ही टपकाता है। यशोधरा को आश्चर्य है, हैरानी है और निराशा

है क्योंकि उसके दुःख का सुखद परिणाम अभी तक उसकी दृष्टि से दूर है; अभी तक वह वियोगिनी ही है।

संकेत:

मींड़ संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय मध्य का अंश इस सुन्दरता से कहना जिसमें दोनों स्वरों का संबंध स्पष्ट हो जाय।

गमक १ संगीत में एक श्रुति या स्वर पर से दूसरी श्रुति या स्वर पर जाने का एक ढंग। २ तबले की गंभीर आवाज़।

मूर्च्छना- संगीत में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में सातों स्वरों का आरोह-अवरोह।

हुत-हृदय-हुति आहुत हृदय का बलिदान। लता के छाले 'फूल' का प्रतीक है। धूल 'पराग' के लिये आया है। अद्रि पहाड़। अन्तर्दाह भीतरी जलन।

(१८) यदि हममें अपना नियम ....उसे मैं माऊँ [पृ० स० १०७]

गौतम ने संसार को परिवर्तनशील एवं मायावी पाया, इसीलिए उन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग किया। गौतम ने इसी पुस्तक के एक स्थल पर कहा है कि मनुष्य व्याधियों से बद्ध रहता है, वह वृद्ध हो जाता है और इसके उपरान्त वह मर जाता है। एक ही बार नहीं बल्कि मनुष्य को बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म-ग्रहण कर परिभ्रमण का कष्ट झेलना पड़ता है। इसी के उत्तर में यशोधरा कहती है कि यह संसार हमारे लिए प्रिय है। संसार की इस क्षण-भंगुरता में ही सुखों का सार निहित है।

यदि हमलोग संयमित होकर रहें या यदि हमलोग अपनी आकाँक्षाओं का या स्वास्थ्य के नियमों का उचित रूप से पालन करें तो लाखों व्याधियों के रहते हुए भी अपना स्वास्थ्य एक-सा रख सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन करता है या जो अपनी उदात्त इंद्रियों पर शासन करता है, वह इस क्षणभंगुर एवं संतप्त संसार में भी अपना सुखमय जीवन यापन कर सकता है। जो अपना जीवन संयमित होकर व्यतीत करने हैं, उन्हे बुढ़ापा नहीं अखरता अर्थात् जिस मनुष्य के जीवन में संयम रहा उसके लिए यह बुढ़ापा तो एक विश्रान्ति है। जिस प्रकार काम करने वाले व्यक्तियों को भी विश्राम करने की अनिवार्यता होती है उसी प्रकार जीवन-कर्म में लीन व्यक्तियों का भी विश्राम करने का समय वृद्धावस्था है। जैसा कि गौतम मृत्यु को निर्मम और निर्दय की संज्ञा प्रदान करते हैं, पर वह निर्दय कैसे है? वह तो नया जीवन प्रदान करने वाला है अर्थात यह मृत्यु निर्दय नहीं कही जा सकती।

अतः गोपा कहती है कि यह संसार उसके लिये प्यारा है और संसार के लिए वह गोपा प्यारी बनी रहे अर्थात् गोपा और संसार में अन्योनाश्रय संबंध सदा के लिए बना रहे।

(१९) आकर पूछेंगे जरा मरण - आत्मरूप अपनाऊँ [पृ० स० १०८]

यशोधरा कहती है यदि हमसे यमराज बुढ़ापे और मृत्यु को देखकर बचपन और जवानी पर व्यंग्य करते हुए पूछे कि तुम्हारा वह भोलापन कहाँ गया? तुम्हारी इठलाती हुई जवानी कहाँ गई? तो वह अपने नाथ को संबोधित करती हुई कहती

है कि वह अपना मुख फेर लेगी और बात भी नहीं करेगी क्योंकि यमराज का तर्क कमजोर है, उसमें कोई तथ्य नहीं। गोपा कहती है कि वह अपने जीवन के क्रमिक विकास को देखेगी। यशोधरा को पुनर्जीवन पर आस्था है, इसीलिए वह कहती है कि आगे जन्म लेने वाली संतान में ही अपना प्रतिबिंब पाती हूँ। इसकी पुष्टि के लिये महादेवी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं 'मेरा बचपन बिटिया बन आया री'।

(२०) *वे चंद्र-सूर्य्य...... मैं भी आऊँ।* [पृ० स० १०८]

गौतम निर्वाण के इच्छुक है और उसी की खोज में वैरागी बन गए हैं। इसके उत्तर में यशोधरा कहती है कि वह मुक्ति की कामना नहीं करती बल्कि बार-बार जीना और मरना ही वह उत्तम मानती है। वह कहती है कि ये सूर्य, चन्द्र, वायु, बादल आदि प्राकृतिक उपादान निर्वाण के इच्छुक नहीं। इसमे भी परिवर्तन आता है। दिन में सूर्य्य उदय होता है, फिर संध्या के साथ ही उसका अंत हो जाता है। परन्तु रात्री के उपरान्त उसका फिर आगमन होता है। ठीक यही दशा चन्द्रमा की भी है। हवा का एक झोंका आता है और चला जाता है। फिर दूसरा झोंका आता है वह भी समाप्त हो जाता है। बादल पानी बरसा कर चला जाता है, मानों उसका अस्तित्व ही मिट गया हो पर फिर बादल नयी वर्षा को लेकर आता है। जब ये सब वस्तुएँ निर्वाण की कामना नहीं करते और सुखी हैं तो मनुष्य हा क्यों निर्वाण चाहने लगे। यशोधरा के लिए बार-बार जन्म लेना और अपना कर्म करने के उपरान्त मर जाना मुक्ति से बढ़कर है।

(२१) रस एक मधुर ही . कुशल सदैव मनाऊँ। [पृ० स० १०८]
एक स्थल पर गौतम ने कहा है 'विषका ही परिणाम निकलता, कोई क्या रस पीता है।' और प्रच्छन्न रोग है, प्रकट भोग।

इसी का उत्तर यहाँ पर यशोधरा देती है। वह कहती है कि संसार में सर्वदा एक रस का पान अच्छा नहीं लगता और इसी की पूर्ति के लिए विश्व में 'षट्-रस' व्यजंन की योजना हुई है। सबके लिए एक ही रस की आवश्यकता नहीं होती बल्कि भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रस की अनिवार्यता होती है। कोई रस का पान स्वाद-परिवर्तन के लिए करता है, कोई स्वास्थ्य या प्राण धारण के लिए। संसार में भोग-विलास की सामग्री है, जिसे गौतम दुःख का कारण मानते हैं इसीलिए उसे त्याग देना चाहते हैं। परन्तु गोपा उस कथन में तथ्यहीनता का दर्शन करती है और कहती है कि यदि इन भोग-विलास साधनों का नियमानुकूल उपयोग किया जाय तो मनुष्य को इसमें कोई हानि नहीं। यदि वह अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात विधान-विहित कार्यों का अतिक्रमण न कर सके तो संसार की सभी वस्तुओं पर उसकी विजय है। अस्तु, गोपा कहती है कि इसी संसार में जिसका आचरण पवित्र एव पावन है वह यहीं पर स्वर्ग ला खडा कर सकता है। इसीलिए हमलोगों को सवदा अपना कर्म व्यस्त करते रहना चाहिये क्योंकि उसी का फल हमे प्राप्त होता है।

(२२) आओ प्रिय ... ... मैं गाऊँ। [पृ० स० १०९]

यशोधरा गौतम को संबोधित कर कहती है कि प्रिय लौट आओ हम दोनों मिलकर संसार में नये-नये भावों की उद्भावना

करें। उसे विश्वास है कि विश्व-सागर में हमारी जीवन-रूपी नैया नहीं डुबेगी। यह भले ही हो कि हमारी जीवन रूपी नैया भव-सागर नहीं पार कर सके और आजीवन भव-सागर मे तैरते रहे। (भावार्थ यह है कि एक तैराक को सच्चे आनन्द की उपलब्धि तभी होती है जब तक वह तैरता रहता है। जब वह पार हो जाता है या जल से बाहर निकल आता है, तो उसको आनन्द नहीं मिलता है)। यशोधरा का कथन है कि जो मनुष्य इस संसार में निष्कलकमय जीवन-यापन करना चाहते हैं वे अपने इन्द्रिओं को अपने वश में रक्खें। फिर कहती है कि मुक्ति की कामना ता एक इच्छा है, एक काम है। इस तरह काम को त्यागने पर भी तो काम ही बच जाता है इसलिये वह चाहती है कि वे लोग अपने गार्हस्थ्य धर्म को हो स्वीकार करें और तब संसार की भलाई हमलोग अच्छी तरह कर सकते हैं। वस्तुतः इस संसार के कल्याण के लिए अगर हम लोगों को सहस्र बार जन्म-ग्रहण कर दुःख भुगतना पड़े तो हमें हर्ष मानना चाहिए। गार्हस्थ्य जीवन में कितना आनन्द आगया इसको एक चित्र वह प्रस्तुत करती है। वह प्रेम से प्रेम का गीत गायेगी और वहाँ गौतम कुशल से रहकर इसको सुनेंगे। इसी मे विश्व का कल्याण है।

यहाँ पर गौतम-बुद्ध की निवृति-मार्ग का खंडन किया गया है और प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ बतलाने की चेष्टा की गई है।

(२३) *सती शिवा-सी .... गुण गा रही है। [पृ० स० ११७]*

कवि प्रातःकाल का वर्णन करता है और उसकी तुलना यशोधरा से करता है। प्रभात के एक-एक अंग से यशोधरा के एक-एक अंग की तुलना की गई है।

राहुल माँ को संबोधन कर कहता है कि हे मेरी पार्वती-सी तपस्विनी माँ ! देखो, सूर्य निकल रहा है। जिस प्रकार तुम अपने अन्दर अभाव का भाव लेकर निराशा से युद्ध कर रही हो उसी प्रकार यह ऊषा भी अनन्त आकाश के बीच उसके अंधकार से होड़ ले रही है। ऊषा के आगमन से राजप्रासाद के धवल कंगूरे पर सूर्य की सुनहली रश्मियाँ पड़ रही हैं, ठीक उसी तरह तुम्हारा स्नेह (अंचल की छाया) मेरे ऊपर छाया हुआ है। जिस प्रकार तुम्हारी पलकियों पर अश्रु के कण हैं, उसी प्रकार ऊषा के आगमन से ओसकण हैं। आँसू का स्थान ही पवित्र स्नेह का स्थान है। इसीलिए यशोधरा के आँसू के कण पवित्र-प्रेम के केन्द्र सम्मान आत्मतेज से दीप्त हो रहे हैं। प्रभात का समय है इसलिए शीतल मंद सुगन्ध वायु वन की ओर से आ रही है। वायु यद्यपि अदृश्य है तो भी उसकी उपस्थिति का ज्ञान राहुल को वायु के गंध से हो रहा है। उसी प्रकार राहुल कहता है कि हमारे (राहुल) और तुम्हारे (यशोधरा) हृदय में अदृश्य पिता की स्मृति अनेक भावनाओं को भर जाती है। अंतिम दो पंक्तियों में कवि ने रवि और गौतम में, नलिनी और यशोधरा में तथा मधुप और राहुल में साम्य दिखलाया है। सूर्योदय के होने से कमलिनी की दृष्टि उसी ओर टिकी है ठीक उसी प्रकार यशोधरा की दृष्टि भी पिता (गौतम) की छवि पर अटकी हुई है। वहाँ कमल की गोद में भ्रमर बैठा है और यहाँ यशोधरा की गोद में राहुल है। उधर भ्रमर ऊषा की प्रशंसा कर रहा है और इधर राहुल तुम्हारे (माँ की) गुणों का गीत गा रहा है।

x